मेरा उत्कल-प्रवास

(गत २५ वर्षों के कार्य की प्रगतिशील अनुभूति)

मूल्य--रु. ३-५० न. पै.

पण्डित अनसूया प्रसाद पाठक

अभिमत

ऋतुएँ जिस प्रकार वर्ष में धरती का परिभ्रमण करने आती हैं, कहते हैं, काल के अखण्ड प्रवाह के बीच सांस्कृतिक चेतना की हिलोरें भी उसी प्रकार वातावरण में नवीन विचार, नवीन प्रेरणा और नवीन शक्ति का संचार कर जाती हैं। गीता के शब्दों में जब-जब धर्म की ग्लानि होती है, धर्म की स्थापना के लिये नारायण सांस्कृतिक युग का प्रतीक बन कर नर बनते हैं। इसी को यदि दूसरे शब्दों में कहा जाय तो यों कहना होगा कि जब किसी काल अथवा किसी देश में अवसाद का अन्धकार फैल जाता है, तब प्रकृति के उस सनातन नियम के अनुसार नवीन क्रांति और नवीन आलोक लिये एक नवीन दीप उभरता है और वह स्वयं तो प्रकाश फैलाता ही है, अनेक दीपों को भी प्रज्वलित करता है जो अन्धकार को दूर करने में सहायक होते हैं।

हम सबका यह सौभाग्य है कि हमने युगान्धकार में उभरते हुए एक ऐसे दीप को देखा। यह दीप था गांधी ! किसी एक व्यक्ति को गांधी नाम देना उचित न होगा। पिछली अर्धशदी में मानवोन्नति के लिये किये गये विविध सत्प्रयत्नों का सम्मिलित नाम ही गांधी है। गांधी एक ऐसी गंगा थे, जो प्रारम्भ में सूक्ष्म, सीमित तथा साधारण दिखाई पड़ती है किन्तु, जैसे-जैसे वह आगे बढ़ती है, अनगिनत स्रोत, निर्झर और सहायक सरिताओं का सहयोग पाकर विशाल बनती जाती है और अन्त में गंगा-सागर बन जाती है। इन छोटे-छोटे स्रोतों और निर्झरों का महत्व की दृष्टि से अपना एक स्थान होता है। गंगा की धारा में योग देने वाला प्रत्येक स्रोत, प्रत्येक निर्झर वन्दनीय है, अभिनन्दनीय है।

'मेरा उत्कल-प्रवास', गांधी गंगा में सहायक बनने वाले एक ऐसे ही छोटे-से स्रोत की विमल कहानी है जिसमें उसके गत २५ वर्षों के कार्य-कलाप, उड़ीसा प्रांत में राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार के बीजारोपण से लेकर वट-वृक्ष की भांति फैले हुए हिन्दी प्रचार का यथाक्रम इतिहास प्रतिबिम्बित हुआ है।

आज से लगभग २५ वर्ष पहले, विंध्य-प्रदेश का हिन्दी प्रेमी एक युवक राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर पुरी (जगन्नाथ पुरी) पहुँचा था। श्री गोपबन्धु चौधरी के सुझाव पर यह युवक कांग्रेस के स्वयं-सेवकों को राष्ट्रभाषा हिन्दी पढ़ाने लगा। राष्ट्रभाषा के प्रचार कार्य का जो श्रीगणेश पुरी में हुआ था--उसने आज वृहत्त रूप धारण कर लिया है। सम्पूर्ण उत्कल-प्रदेश में हिन्दी का सन्देश घर-घर पहुँचाने का सफल प्रयत्न उत्कल प्रांतीय राष्ट्रभाषा-प्रचार-सभा कर रही है। वह युवक ही आज उक्त सभा के संचालक हैं--पं० अनसूया प्रसाद पाठक !

इस पुस्तक को लेखक ने 'प्रवास' की संज्ञा दी है। यह ठीक है कि श्री पाठकजी न जन्म से उड़िया हैं और न उनकी मातृभाषा उड़िया है। आप प्रवासी बन कर ही उत्कल आये थे, किन्तु उत्कल ने उन्हें न केवल पकड़ा वरन् ऐसा जकड़ा और वे भी उत्कल के कमनीय आकर्षण से ऐसे प्रभावित हुए कि उनका 'उत्कल-प्रवास' उत्कल निवास में परिणत हो गया। किसी भी उड़िया से वे उत्कल प्रदेश को कम प्यार नहीं करते। सच कहा जाय तो वे उत्कल के प्रेमी ही नहीं, उत्कल के उपासक बन गये हैं। सभा द्वारा संचालित अनेक प्रवृत्तियाँ इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

संस्मरण शैली में लिखी गई यह पुस्तक जहाँ एक ओर उत्कल में राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार का इतिहास उपस्थित करती है, वहाँ दूसरी ओर श्री पाठक जी के हिन्दी के प्रति प्रेम और श्रद्धा को प्रकट करती है। साथ ही

राष्ट्रभाषा हिन्दी और देवनागरी लिपि के संबंध में उनके स्वतन्त्र-स्पष्ट विचारों का लेखा-जोखा उपस्थित करती है।

उत्कल-प्रदेश में पाठक जी और राष्ट्रभाषा पर्याय बन चुके हैं। इसलिये राष्ट्रभाषा प्रचार में उनका जीवन और उनके जीवन में राष्ट्रभाषा प्रचार समरस हो गया है। इसलिये पुस्तक के पाठक प्रस्तुत पुस्तक में पाठक जी के वैयक्तिक जीवन की झांकी भी पायेंगे।

पं० रामचन्द्र जी शुक्ल ने एक स्थान पर लिखा है कि आधुनिक उपवनों में जब प्रकृति माली की कैंचियों के आघातों से भयभीत होकर ड्रिल-सी करती है, उसमें भी लोग सौंदर्य का दर्शन करते हैं किन्तु जहाँ प्रकृति स्वच्छंद रूप से बढ़ती, विचरती है, ऐसे अधूरे बनों का स्वाभाविक दृश्य और भी अधिक सुन्दर और भी अधिक आकर्षक लगते हैं।

इस पुस्तक में पाठक जी ने वस्तुओं और घटनाओं को यथारूप में चित्रित किया है। जब जैसा जो कुछ हुआ उसे ज्यों का त्यों शब्दों में उतारने की पद्धति में 'पॉलिश' की कमी भले ही किसी-किसी को दिखाई पड़े, परन्तु उसमें सहज स्वाभाविक सौंदर्य की जो अकृत्रिम छटा दिखाई पड़ती है वह अपनी अकृत्रिमता के कारण और अधिक आकर्षक बन जाती है। सम्पूर्ण पुस्तक में शब्द-चित्रण की इस अकृत्रिम शैली को सर्वत्र देखा जा सकता है।

इस पुस्तक की भूमिका लिखने का भार मुझी पर क्यों डाला गया-- इसका उत्तर सम्भव है पुस्तक के पाठक, पाठक जी की इस पुस्तक में यथा स्थान खोज लेंगे।

—रामेश्वर दयाल दुबे

अपनी बातें

गत २५ वर्षों के राष्ट्रभाषा प्रचार का संक्षिप्त इतिहास या इसको कार्य-विवरण भी कह सकते हैं, पाठकों के सम्मुख है। इसमें सभा के कार्य के साथ-साथ संचालक के व्यक्तिगत जीवन की भी थोड़ी चर्चा भी है। इसमें सारी बातें अति संक्षिप्त हैं, लेकिन हैं बहुत ही आडम्बर शून्य! हो सकता है कि इसे पढ़ कर कुछ विद्वान खुले विषयों पर पॉलिश करने या मांजने का परामर्श देंगे, परन्तु मांजने पर वह स्वाभाविकता नहीं रहेगी जो इसमें है। जो भी हो मैंने बहुत ही सरल और शुद्ध भावना से लिखा है; पाठक भी उसी शुद्ध भावना से पढ़ेंगे तो हृदय के तह तक आसानी से पहुँच जायेंगे। इसमें बहुत से उतार-चढ़ाव के विषय हैं और कार्य की प्रणाली है। मेरे अनुभव और अनेक महानुभावों की सहानुभूति की चर्चा भी है, जो यथा-स्थान मिलेगी। मैं यहां उनकी चर्चा करना फिजूल समझता हूँ।

पाठक इसको पढ़ कर जो भी परामर्श देंगे, मैं उनको सहर्ष ग्रहण करूँगा।

मेरा उत्कल-प्रवास

पुरी-आगमन

मैं १७ नवम्बर सन् १६३२ के दिन सबेरे ८ बजे पुरी पहुँचा। मैं कोई राष्ट्रभाषा का प्रचारक नहीं था, और न राष्ट्रभाषा का प्रेमी कर्मी ही, मुझे याद नहीं था कि राष्ट्रपिता ने राष्ट्रभाषा को क्या स्थान दिया था। पर चूँकि पुरी में कांग्रेस होनेवाली है, इसलिये मेरा आग्रह अधिक था। ऐसा सम्भव तो था नहीं कि रुपये खर्च करके कांग्रेसके महासम्मेलन में भाग ले सकूँ। लेकिन मेरा कांग्रेस के प्रति प्रेम था और इस प्रेमको पैदा करने वाले थे पं० कालिका प्रसाद शर्मा। मैं उन्हींकी सोहबत में आया, और अंग्रेजों के प्रति अश्रद्धा करना सीखा। फलस्वरूप कांग्रेस का उत्सव मेरे लिये पुरी तीर्थ से कम नहीं था। मैं उनका समर्थक था जो मार कर भारतसे अंग्रेजों को भगा देने का उद्यम करते थे। यह मुझे पसन्द था, उस ओर खिचाव था। पुरी में आया, सीधे स्वागत कार्यालय गया, जो पुरी शहर के बीच बड़े पथ (बड़ दाण्ड) में था। वहां मैं श्रीयुक्त गोपबंधु चौधरी से मिला।

गोप बाबू ने कहा—तुम स्वयंसेवकों को हिन्दी सिखाने

आये हो, बड़ा अच्छा हुआ। हमारा विचार है कि यहाँ अंग्रेजी कम वरती जाय। इसलिये स्वयंसेवकों को हिन्दी में बोलना, पथ वतलाना आदि जल्दी सिखाना चाहिये। कारण भारत अगर स्वाधीन होता है तो पुरी से उसका श्रीगणेश भी होगा। और फिर हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा बनेगी, उसको जल्दी सीखना चाहिये, बिना हिन्दी सीखे भारत में एकता नहीं आ सकती।

उस समय बलिया पण्डा में स्वयंसेवकों के दो शिविर थे। एक महिलाओं का और दूसरा मर्दों का।

मैं अंग्रेजी नहीं जानता था। बंगला कुछ-कुछ जानता था। हिन्दी तो थी ही। मुझे ऐसा लगा कि मैं जो पढ़ाता हूँ मानों उसे खुद पढ़ रहा हूँ। मैं यहाँके रहन-सहन से प्रभावित था लोगोंके दिलों में स्वाधीनता पाने की कितनी बड़ी प्यास है, उमंग है और उत्कण्ठा है।

मुझे दो हिन्दीके गाने सबसे ज्यादे मुग्ध किये हुए थे—एक था सबेरे के समय 'झंडा ऊँचा रहे हमारा' और दूसरा था शाम के समय झण्डावतरण के लिये 'राष्ट्रगगन की दिव्य ज्योति राष्ट्रीय पताका नमो-नमो'। कितना भी काम हो, मैं इस समय शिविर के झंडावन्दन और झण्डा अवतरण के समय जरूर ही उपस्थित रहता था।

सागर की दहाड़ तथा युवक युवतियों की मधुर कण्ठों स ये गाने दिग-दिगन्त को रवपूर्ण करते थे। ऐसा गूँजता मानो क्षितिज से टकराकर फिर उन्हींके पास आ जाता हो।

स्वाधीन भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी होगी, यह गौरव-पूर्ण कामना कितनी सुन्दर सबके दिलोंमें आसीन थी, कल्पना के बाहर की बात है। लेकिन यहाँ यह स्वाधीन भारत की कमीको पूर्ण करने वाली प्रधान कड़ी-सी साबित हुई। लोगों की अभिरुचि सुन्दर, निष्काम और निष्कपट थी।

मैं यहाँ आया तो था कांग्रेस के जलसे को देखने के लिये, लेकिन इस काम में मेरा मन लग गया। मन रम गया। मैं 'पण्डितजी' बन गया। मेरा आदर होने लगा। मैं सम्मान और इज्जत की निगाहों से देखा जाने लगा। मुझे सभी सुन्दर लगने लगे। मनमें कुछ काम करनेकी स्पृहा जागी। मैं कई घण्टे पढ़ाता, पढ़ानेकी चिन्ता करता। मुझे लगने लगा कि यही सबसे नेक काम है। — जगन्नाथके भात को जगत पसारे हाथ; यह उक्ति मैंने सुनी थी। अपना हाथ जगन्नाथ का भात, की उक्ति यहाँ मैंने प्रत्यक्ष देखी। कितनी शान्ति मनमें उस दिन मिली थी जिस दिन श्री मुरारि त्रिपाठी ने मुझे जगन्नाथ जी के समीप ले जाकर उनका कलेवर छुआया था। मालूम नहीं मैंने क्या दिया था, लेकिन जरूर कुछ चढ़ाया था। मन ही मन मैंने क्या-क्या माँगा था। माँगा तो जरूर होऊँगा। इस स्थान के लिये हजारों का सौदा होता है।

जगन्नाथजी के दर्शन

मैंने कई बार भात खाया, खिचड़ी खाई, मालपुये और पीठे खाये, लोगोंको चखते देख मेरे मनमें एक प्रकार शान्ति मिली। मुझे मालूम कराया गया कि यहाँ किसी प्रकार भेद-भाव का विचार नहीं किया जाता। सभी लोग इस प्रकार भात-दाल अंगुली से चख कर मन चाहे तो ले सकते हैं। यहाँ घृणा करना पाप है, अपराध है।

भगवान् की माया, इन मन्दिरों के निर्माताओं ने किस भक्ति भावना की प्रेरणा से यह विशाल मन्दिर बनवाया है, कौन कल्पना कर सकता है।

मैंने मन्दिर को देखा। किसी प्रकार की साहित्यिक रसपूर्ण भावना नहीं जागी, न कल्पना ही उठी। किन्तु मुझे पता लग गया कि सेठ जमुनालाल जी बजाजने मन्दिर में लगी नंगी मूर्तियों को उठा देनेकी इच्छा जाहिर की है और अगर न उठाई गई तो वे इसके लिये आन्दोलन करेंगे, सत्याग्रह करेंगे।

मेरा ख्याल है, जैसा कि मेरा मन अब मन्दिर जाते उधर मूर्तियों पर जाता है, उसी प्रकार बजाजजी के कथन पर लोग उधर अधिक जाने लगे हैं, या ध्यान उधर जाने लगा है। मन बरबस उधर खिचता है।

मूर्तियों की कमनीयता सुन्दर है, कलाकार की एकाग्रता

एक निष्ठता सौंदर्यमयी दृष्टि की सूक्ष्मता, कला की दृष्टि से सर्वोत्तम है। यह उच्च कोटि की चिन्ता है ! लेकिन इस चिन्ता से संसार का नंगा चित्र सामने आ जाता है। जो समाज की निगाहों से आदर्शमय नहीं माना जा सकता। कलाकार ने कला की है और हूबहू चित्र खींच कर जन-जन की आंखों के समक्ष रखने में समर्थ हो सका है। लेकिन अगर हम तुलसीदासजी की भाषा में कहें—अंजन कहा—आंख जेहि फूटे, बहुते कहौं कहाँ लग । अगर कला समाज का सच्चा सौन्दर्य न रख कर नग्न चित्र रखे, जिससे उसके जंगलीपन का नमूना भान हो तो फिर कला, कला न हो गला घोटन कला, हलाहल साबित होगी । आज वह कला सौन्दर्य के दर्शन नहीं कराती। भक्ति भावना से लोगों को न तो ओत-प्रोत कराती, न प्रीत ही करा पाती है और जो प्रीत नहीं करा पाती, वह पतनोन्मुख तो जरूर कराती है ।

मैं कई बार मन्दिर गया, लेकिन अब अधिक समय बाहरी सौन्दर्य पर नजर पड़ती। मुझे लगता है कि कुमार और कुमारियाँ भी इस सौन्दर्य-दर्शन से अपनेको बरी नहीं कर सकते हैं। यह मैं अपने अनुभव से कहता हूँ। और सच, अनुभव दर्शन से कहता हूँ।

प्रथम-प्रथम इस दर्शन से मेरे मन में प्रीति लाभ किया। लेकिन ४—६ बार के दर्शनसे मन ऊब गया। और मैं समालोचक बन गया। बादमें भक्ति भी नहीं रही, अवश्य इसके इतिहास के प्रति जिज्ञासा थी।

जेल-यात्रा

अभी एक मास ही बीता होगा, मन मे एक प्रकार शान्ति जमी होगी कि फिर एक लहर आई। गान्धीजी राउंड-टेबुल कानफरेन्स से निराश लौटे थे, पं० जवाहरलालजी नेहरू जेल में ले लिये गये। तमाम बलिया पण्डा मैदान में जो ललित उल्लास खेला करता था, रोप मे परिणत हो गया। गोपबाबू ने भोजनोपरान्त सब को सम्बोधन करते हुए कहा—अब जल्दी कांग्रेस सत्याग्रह की लड़ाई शुरू करेगी, ऐसी दशा मे यह कांग्रेस अव नही होगी। जो व्यक्ति अपने अपने स्थान जाना चाहें रेल खर्च लेकर चले जाये, अन्यथा जेल जाने के लिये तैयार हो जायें।

नवद्वीप से महिसवथान नमक सत्याग्रह करके सन् १९३० में मैं बंगाल की दमदम जेल मे था। जेल में ६ मासमें मेरा १४ पाउंड वजन बढ़ा था। इसलिये जेल जाना मेरे लिये खुशकर था। मैं था—'आगे नाथ न पाछे पगहा', परम स्वतन्त्र, न आगे की चिन्ता न पाछे के लिये अनुताप। मै उस समय केवल एक ही कविता की आवृत्ति करता था—खाना कपड़ा सब कोई पावे, अच्छे घर में रहने पावें, खुश रहें मजदूर किसान, ऐसी मति दीजै भगवान्।

दो रोज बाद कटक की एक शाम को सभा में, मैंने गीता का एक श्लोक पढ़ा—'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा

वा भोक्ष्यसे महीम्' । दूसरे चरण के पढ़ने का मौका नहीं मिला। पुलिस तो वहाँ खड़ी थी, बोले चलो, और हाथ पकड़ लिया। मेरा अनुमान है उन लोगों ने खुद पढ़ लिया होगा—तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतिनिश्चयः।

मैं कटक जेल में लाया गया । दूसरे दिन ६ मास जेल की संजा सुना दी गई। अपराध क्या है? मुझे कुछ भी पता नहीं था। मैंने भी कोई आपत्ति नहीं की। उस दिन मेरे साथ साथ ५० व्यक्ति पकड़े गये थे। और कटक जेल में पहुँचाये गये ।

जेल में एक-एक थाली कटोरा लेकर जब हम लोग राजनीतिक कैदियों के वार्ड में गये तो लोगोंने आनन्दोल्लास से हमारा स्वागत किया। सब लोगों ने यह जानना चाहा कितने बंदी कल आनें वाले हैं।

अधिक से अधिक संख्या में लोग जेल जांयें, यही विजय की सर्वोत्तम आशा थी, कामना थी।

हम लोग कटक जेल में सात दिन रहे। फिर पटना केम्प जेल बदली हो गई। स्टेशन पर सभी के आत्मज मिलने आये। हम लोग २—३ डिब्बे में भरे थे। लगभग २ दर्जन पुलिस सिपाही भी थे। स्टेशन पर एक सज्जन ने पूछा—घर के किसी को खबर देनी है ?

मैंने मना किया। तीसरे दिन हम लोग पटना स्टेशन में जा पहुँचे । यह स्टेशन पटने का ५वां स्टेशन था। केवल बंदी ही इसमें उतर सकते हैं। हम लोगों को तो यहीं

उतरना था। यहाँ से पटना कैम्प जेल १।। मील की दूरी पर है, जेल के सभी बंदी दिखलाई पड़ते थे। कांटोंके तार से घिरा यह नर-कोंढ़ा है । और टीन से छाये घर हैं ।

सरकारके पास तो इतने जेली कपड़े नहीं थे, इसीलिये अपने अपने कपड़े ले जाने के लिये भी छूट थी, लेकिन बन्दी जेल के ही कपड़े पहिनना पसन्द करते थे, हमलोगोंने भी वही किया।

पटना जेल में ७ हजार आदमी थे जिसमें १ हजार ७ सौ उत्कली थे।

जेल-जीवन साधन का होता है। यहाँ आदमी साधु-ज्ञानी बन सकते हैं और नर-राक्षस भी बन सकते हैं, लेकिन देव बनने की चेष्टा कोई कोई करते हैं, पर नर ही रहते हैं ।

यहाँ सी० क्लास के बंदी थे। केवल इधर-उधर गप्पें मारना काम था, मीटिंग आदि करके लोगोंको सुनाना काम था। नाटक, कहानी, कविता पाठ आदि होता और खास कर ऐसे भावों में ओत-प्रोत होते कि यह अंग्रेजी राज कैसे भारत से जाये।

पटना कैम्प जेल

मैं श्रोता था। न कहानीकार था न नाटककार और न कवि ही। लेकिन पढ़ जाता। कुछ पढ़ूं कुछ लिखूं। मेरे मन में यह भाव जागा कि अंग्रेजी राज जाने के बाद सारा काम हिन्दी में होगा। यह उचित है कि हिन्दी को अंग्रेजी की तरह लिखा जाय। मैंने यह बात कई बिहारी विद्वानोंके सामने रखी भी, कुछने सोचा, माना तो २–४, लेकिन नाराज अधिकांश हुए। यह बुद्धि तुमको किसने दी ? इस संबंध में मेरे दो विचार थे—एक तो स्वर की मात्राएँ व्यंजन की दायीं तरफ लगे, न कि बायें ऊपर-नीचे। और दूसरे ख, स, ह, श का रूप बदल दिया जाय। मैंने इस पर तर्क उपस्थित किया कि प्रचलित स्वरव्यंजन की मेल प्रणाली गलत है। कारण स्वर व्यंजन का जहाँ मेल होता है वहाँ प्रथम व्यंजन वर्ण का उच्चारण होता है, बादमें स्वर की मात्रा की ध्वनि आती है, जैसे—कि की, कु कू, के कै, को, कौ में उच्चारण की ध्वनि प्रथम क की आयेगी बादमें स्वर की मात्राकी। इसलिये मात्राएँ व्यंजनवर्ण के केवल दाहिनी ओर लगें।

और एक सबसे क्रांतिकारी सुझाव था। वह यह कि स्वर वर्ण छोड़ दिया जाय। मात्राएँ ही स्वर और मात्रा का काम करें, व्यंजनवर्ण के बायीं ओर लगने वाली मात्राएं स्वर मानी जायें, पढ़ी जाये और व्यंजन के दाहिनी ओर लगने वाली

मात्राएँ, मात्राएँ पढ़ी जायेंगी। दूसरी बात है कि इन मात्राओं में जरा परिवर्तन किया जाय। जिससे व्यंजन वर्ण के समान हो। तीसरी बात है कि आकार और एकार मिलकर ओकार बने, और दीर्घ ऊकार और आकार मिल कर औकार हो। इन सब का एक रूप होगा। लेकिन बाद में इस पर संशोधन फिर हुआ। इ, ई, उ, ऊ स्वर को मान लिया गया। ख को बदल दिया गया। मैंने देखा कि किसी प्रकार की असुविधा लेखन में नहीं है। बल्कि ४५–४६ अक्षरों से सारा काम खूब सहूलियत के साथ किया जा सकता है। अगर कागज मिले तो और भी लिखकर उसकी सुविधा-असुविधा की परीक्षा की जा सकती है। परन्तु यह तो जेल से बाहर जाने पर ही काम में लाने लायक विषय होगा।

मुझे इस नई खोज मे आनन्द आया। ऐसा लगा कि मानो मैं कोई बड़ा काम कर रहा होऊँ। जहाँ जमीन पर बैठ जाता लकड़ी से जमीन खरोंचने लगता।

भू-पृष्ट पर हिन्दी लिपि

एक दिन की बात है——मैंने जमीन साफ किया और दातुन तो हाथ में थी ही। फिर नयी लिपि में मैंने अनसूया प्रसाद पाठक लिखा। इसको मिटा कर फिर स्वर-व्यंजन के सारे अक्षर लिख डाले। मात्राएँ लिख डालीं। इसी समय श्री गुणनिधि महान्ति आ पहुँचे। मेरे वर्ण परिचय का तमाशा आपने देखा। वे बैठ गये और जमीन पर ही स्वर के अक्षर लिखने लगे। दिन भर में यह काम इतना व्यापक बन गया कि दूसरे-तीसरे दिन २५–३० की संख्या में लोग वहीं जमीन पर लिखकर वर्ण-परिचय करने लगे। यह काम बड़े ही उत्साह से चल निकला। अभी पाँच दिन गुजरे होंगे कि एक दिन जेल का सुपरिन्टेन्डेन्ट ने आकर तमाशा देखा। उनको मेरा काम पसन्द आया। उन्होंने कहा——मैं स्लेट दूंगा। कागज पेन्सिल दूंगा, पुस्तकें भी मंगा दूंगा। इन बानर सेना को संभालो, बड़े ही उदण्ड लड़के हैं ये।

बात पक्की हो गई। शाम के समय एक जेल का सिपाही स्लेट, पेन्सिल और कागज लेकर आया।

इन बानर सेना को सम्भाल रखने का भार तीन व्यक्तियों पर पड़ा——श्री गोरेचन्द राव, श्री गौरगोपाल दास और मैं।

काम चल निकला। एक हजारसे ऊपर लोगोंने वहाँ

हिन्दी सीखी होगी। मैं अपने प्रिय काम में लगता और हिन्दी प्रचार में ही १०–१२ घण्टे बीतने लगे। जेलके तमाम आदमियों ने इसे पसंद किया। इसको आदर्श मान अन्य वार्डों में भी हिन्दी की क्लासें होने लगीं। जो समय भार-सा बना था, कुछ घण्टों का लगने लगा। मेरी आँखों के सामने नई लिपि नाचने लगी। कारण, इसको हम अंग्रेजी लिपि के मुकाबिले में जो लाने वाले हैं। अंग्रेजी तो भारत से गई समझो।

जेल-मुक्ति

मेरे लिये ६ मास ६ हफ्ते-से मालूम दिये। मैं जेल से मुक्त हो गया। साथ में लगभग ५० आदमी उस रोज जेल से बरी हुए थे।

कटक (ओड़िशा) तक के लिये हमें रेलवे-पास मिला था और मार्ग खर्च के लिये कुछ रुपये भी मिले थे।

हम उत्कल की ओर चले। तय किया, पटना और गया देखते चलेंगे। पटना गये। वहां पर भी राजनीतिक वायु धीमी-सी लगी। हम लोगों को देख लोगों की आंखें टिक तो जाती थीं, लेकिन यह पूछनेका साहस शायद नहीं होता था कि हम कहाँ से आये हैं और जा कहाँ रहे हैं? खद्दर की पोशाक न होती तो सम्भव है पूछते भी।

फलगू स्नान और बुद्ध-मन्दिर दर्शन

हमें पटना कोई खास आकर्षित न कर सका। हमलोग गया गये। फल्गूमें नहाया। पण्डों को दक्षिणा देनेके लिये पैसे न थे। इसलिये एक किनारे 'मंगलम् भगवान् विष्णु मंगलम् गरुड़ध्वजं, मंगलम् पुण्डरीकाक्ष मंगलम् मधुसूदनम्, ओम् अपवित्रो पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपिवा यः स्मरेत् पुण्डरीकक्षं स वाह्याभ्यन्तरः शुचिः' मन्त्र से ऊपर जल छिड़क फल्गू वारि-धारों में प्रवेश किया तथा लगे लगाने गोते। सो जितने पुरखों के नाम याद आये, सभी के नाम से गोते लगाये। जाने अनजाने ब्रह्मा-विष्णु-महेश, अग्नि, वरुण, वायु आदि के लिये भी गोते लगे।

गोते लगाते मुझे एक बात याद आई। प्रयाग की किसी देहात की बात थी। देहाती ग्राम के तुलसी-चौरे के पास एक बुढ़िया बैठी पूजा करती है और पूजा करके भोग लगाती है। कहती है—रामजी तू हूँ ला, सीता मैया तू हूँ ला, शिवजी तू हूँ ला, पारवतीजी तू हूँ ला—बात यह है कि वह रोज ३३ कोटि देवताओं के नाम नहीं तो सौ के तो जरूर लेती होगी।

मुझे हँसते देख साथी बोले—हँसते क्यों हैं ? मैंने यह कथा सुनाई। सभी हँस पड़े।

स्नानादि से निवृत्त हो बुद्धगया देखने चले। बुद्ध-

मन्दिर देखा, वह वट देखा जिसके नीचे बैठकर बुद्ध भगवान् ने बोधित्वप्राप्ति लाभ किया था।

मनमें आया––काश, हम भी ऐसे ही ध्यान लगाकर ज्ञानी बन जाते। लेकिन वैसा कष्ट, वैसा त्याग हमारे बूते के बाहर है। फल तो चाहिये, लेकिन उस फल के लगनेमें क्या और कितने श्रम की आवश्यकता है मालूम नहीं। यही तो है न संसार?

कटक आगमन

घर जाऊँ, घर जाऊँ करते फिर कटक आ गया । यहाँ देखा बड़ा विचित्र हाल है। सारा उत्साह ठंडा है। भय का साम्राज्य है। लोग बातें करते समय चारों ओर देख लेते हैं। खान-पान की विचित्र व्यवस्था थी । हमारे साथी लुक-छिप कर जाते और बड़े ले आते तथा काठजोरी के किनारे बैठकर प्रेमसे खाते और उसीका पय पान करते। दिनके भोजन का हाल बुरा था। लेकिन रातको किसी न किसीके घर जाकर भोजन कर लेते और काठजोरी की बालू में सो जाते। कितनी सुन्दर नींद आती थी ! यहीं कबीर की उक्ति जंची—

चाह गई चिन्ता मिटी मनुवा बेपरवाह ।
जिनको कछु न चाहिए सोई साहनसाह ।।

मैंने श्री महताबजीसे कहा—मैं घर जाना चाहता हूँ।

श्री गौरचन्द्र रावतने कहा—घर क्या करेंगे? चलो ब्रह्मपुर।

श्री महताबजी ने कहा—नहीं-नहीं, ऐसी दशा में काम छोड़कर कहीं जाना उचित नहीं, यहीं रहो। क्या कष्ट से डर गये हो? डटे रहो, देखा जायेगा। मैं रुक गया।

सूर्यकी किरणें जबतक चिमटी न काटती हम लोग बालू में रहते, मैं अंगुलियों से लिख करके हिन्दी लिखाता—जो मालूम था, कुछ कहता··· ।

मुझे बहुत पहले से उनके जीवन से, काम से, प्रेम था, जिन लोगों ने कि अंग्रेजों को मारा था और फांसी पाया था। ऐसे साहित्य का कुछ संग्रह मेरे पास था, जो नवद्वीप में था।

काठजोरी की उदार शीतल गोद हमारे लिये राज-प्रासाद से बढ़कर थी। वह न तो किसी की परवाह करती थी न किसी का कहा सुनती थी। उसका अम्लान मुख और कलेवर बड़ा ही सुन्दर दीखता था। वह सदयता और भेद-भाव शून्य वारिदान अनुपमेय होता था। लेकिन इस अमियतुल्य पय पान कराने के बाद बरसात में जब वह ऋतुमती होती है तो उसका उन्माद और अंगड़ाई जन-मन के लिये बड़ा ही दुखदाई होता है। लाखों लोग बेघर-बार हो जाते हैं। लाखों जीव वारिधारा में बहकर सागर में घुलमिल जाते हैं।

लेकिन यह भी ठीक है कि अगर महानदी अपना पयपान न कराती तो घर-घर में हाथीपाँव वाले कोषाध्यक्ष नजर आते। यह एक विचित्र बात है। महानदी अपनी जड़ी-बूटियों को छानकर रस लाकर बाँटने के लिये काटजोरी को देती है और वह कटक-जन-जननी बनकर जीवन-दान देती है, निरोग बनाती है।

सत्याग्रह

शाम के समय निश्चय होता कि कल सबेरे काटजोरी का पयपान कर शराब की दुकान पर या विलायती वस्त्रों की दुकान पर धरना देने के लिये तैयार रहना। उनको किसी के प्रेरणा की जरूरत नहीं होती। जाड़ा हो या बरसात, धूप हो या छाया, वे तो अपने काम में लगे थे। स्वराज पाने की उनकी प्रवल इच्छा सारे कष्टों को भुला देती थी।

एक दिन की घटना बड़ी ही मर्माहत नजर से गुजरी। चौधरी बाजार की अफीम वाली दुकान पर धरना था, और जोर का धरना। २०–२५ स्वयंसेवक सत्याग्रही पथिकों के पद के सामने लेटे हुए थे। पुलिस आती और पैर पकड़ कढ़ेलती ले चलती। इस जगह कोई ६० आदमी पकड़े गये थे। नगर भर में जोश था। सारा शहर गरम था, महताब बाबूने अपना कागज पत्र और मेजहीन कार्यालय श्री अटल विहारी आचार्य की दुकान के बरामदे से लगा रखा था। वहींसे बल मिलता। शामके समय मैं हिन्दी पढ़ाता और बातें करता।

उक्त घटना ने मेरे मनको उत्फुल्ल कर दिया था। मरे पशुओं को इस प्रकार कढ़ेलते तो मैंने देखा था, लेकिन आदमी को आदमी इस प्रकार निर्दयता से कढ़ेलते मैंने नहीं देखा था। कुछ भ्रमणार्थी साहेबों ने भी यह तमाशा देखा था। उनको यह आश्चर्य में डाल देने वाला दृश्य था। गान्धीजी के इशारे

पर लोग इस प्रकार शान्तिमय सत्याग्रह करते हैं, कर सकते हैं, उनके जीवन में भी प्रथम घटना थी।

मुझे ठीक याद है कि मैंने उस दिन, लोगों में जोश भरने के लिये आप-बीती बातें कही थी, कि किस प्रकार बंगाल के महिसवथान नामक गाँव में हम नमक बनाते थे। पुलिस आती तो नमक की कड़ाही सिर पर ले लेते थे। पुलिस वाले डर जाते कि कहीं छीना झपटी में गरम पानी उन पर भी न पड़ जाये।

एक बार कलकत्ते में नमक बिक्री करनेका सत्याग्रह, मैं कर रहा था। पुलिस सर्जन ने मुझे तीन बार चले जाने के लिये कहा। मैंने साफ कहा—नहीं जाऊँगा। सर्जन डण्डे वर्षाने लगा। प्रत्येक डण्डे के आगे यह कहता—'नहीं जाऊँगा, नहीं जाऊँगा!'

मुझे याद है कि प्रथम डण्डा मेरे पैर की एड़ी पर लगा और फिर वैसे ही लगता ऊपर की ओर बढ़ने लगा। मैं दाहिने हाथ की मुट्ठी को बाँई बगल में और बायें हाथ की मुट्ठी को दाहिनी बगल में दबाये सीधे खड़ा था। डण्डे चल रहे थे, मानो धान कूटा जा रहा हो। पिछले सिर पर डंडा लगा और मैं गिर पड़ा। पैर वहाँ से हटा नहीं। स्वाधीनता की प्यास इतनी थी कि वे डण्डे मुझे तकलीफ नहीं दे सके थे।

दूसरे दिन सबेरेका हाल तो और विचित्र था। स्वराज्याश्रम पर पुलिस का कब्जा था। जो काँग्रेस का दफ्तर था, आज पुलिस चौकी बनी थी। कल सबेरे स्वराज्याश्रम पर चढ़ाई

होगी। यह सूचना तमाम शहर भर में फैला दी गई थी। वहाँ जो पुलिसवाले थे, उनसे चौगुने लट्ठधारी पुलिस थी और बन्दूक वाले फौजी जवान १०–२०। मैं दर्शकों में था। सत्याग्रही चलने लगे आश्रम के फाटक पर पेलिग्राने। पुलिस ने अपनी लाठी सम्भाली और दनादन वर्षा ही तो दी। लगभग ८०–६० सत्याग्रही बिछा दिये गये। खून की धार बह चली। आश्रम का द्वार खून की पिचकारी से रंग गया। आखिरकार, दो चार अन्दर गये, और बन्दे-मातरम् का नारा लगाया। उनमें श्रीमती रेवा सेन और गोलक विहारी महारणा भी थे। आश्रम दखल माना गया। पुलिस ने खाली कर दिया।

सत्याग्रही मेडिकल में दाखिल हुए। वहाँ सीटें नहीं थी। नीचे बिस्तर लगे। उनकी सेवा में मैं भी एक था। वह उस समय की चीत्कार करुणा नहीं पैदा करती थी, बल्कि जोश पैदा होता था। उस ज्वाला में कूद पड़ने की इच्छा होती थी। महात्मा गान्धी जी की पुकार से नस-नस में गरम खून खौल उठता था और लोग जूझ पड़ने के लिये तैयार रहते थे।

श्री राधामोहन महापात्रजी

दो-चार दिन के बाद श्री राधामोहन महापात्र के घर भोजन की व्यवस्था हुई। लेकिन बालू की सेज और टाउनहाल का बरामदा राष्ट्रभाषा क्लास के लिये मिला रहा।

कुछ दिनके बाद श्री राधामोहनजी ने मुझे अपने फस की झोपड़ी दे दी। इसके चारों ओर केले, अमरूद तथा फूल के पेड़ भी थे। बड़ा सुन्दर स्थान था। झोपड़ी अवश्य फूस की थी, लेकिन उसके आस पास जो अकृत्रिम सौन्दर्य था, वह अनुपम था। इस स्थान को देखकर मालती देवीजी ने कहा था—यह तो काव्यमय स्थान है। श्री राधामोहनजी की सौजन्यता से मेरे भोजन की समस्या हल हो गई थी। यों तो छिप करके लगभग ५० आदमी उनके घर रोज भोजन करते। कभी-कभी तो ६०–७०–८० तक की संख्या पहुँच जाती। महापात्रजी की माँ और पत्नी बड़े प्यार और प्रसन्नतासे सबको भोजन करातीं। रोज रातको कभी एक और कभी दो बजा करते थे।

महापात्रजी कोई धनी नहीं हैं। उनसे अधिक संपन्न व्यक्ति उत्कल में हैं। लेकिन इनकी सहृदयता के मुकाबिले में लोग कुछ भी नहीं हैं। भोजन के उपरान्त स्वयंसेवक कहाँ और किस घर में रहेंगे, कहाँ साइक्लोस्टाइल से प्रचार-पत्र छापे जायेंगे, सारा सामान कहाँसे जुटाया जाय और कहाँ रखा जाय? यह

भी महापात्रजी की चिन्ता का विषय बन गया था, आवश्यक काम था।

मैं निश्चिन्त उनके घर में रहने लगा। अब मैं केवल हिन्दी पण्डित था और आगे चल कर हिन्दी उठ गई, मैं केवल पण्डितजी रह गया। मैं घर-घर घूम कर हिन्दी पढ़ाता। कांग्रेस के काम का प्रचार भी मेरे जीवन का उस समय एक अंग था। अंग्रेजों को मार कर भगाना है, चाहे जैसे हो, लक्ष्य होना चाहिये। मैं इसका हामी था।

अब मेरा सारा सामान आ गया। बंगाल का सम्बन्ध तोड़ दिया था। मेरी निजी हिन्दी पुस्तकालय के लिये एक आलमारी की जरूरत थी। इनको नीचे देखकर श्री राधामोहनजी ने एक ढाबल की आलमारी दी जो आज भी १० आलमारियों के बीच प्रथम नम्बर की है और ठिगनी दादीके समान बैठी है।

मैं दो साल तक श्री राधामोहनजी के घर रहा। आपके दिल और दिमाग ने मेरे प्रति नीरस भाव नहीं व्यक्त किये। आपकी माता और पत्नी ने भी कभी यह व्यक्त नहीं किया कि मैं बाहर का हूँ, क्यों शिर पर सवार हो अन्न ध्वंस करता हूँ। भोजन का समय होते ही तीनों वक्त प्रथम मेरी पूछ होती थी।

प्रान्तीय सभा की स्थापना

मेरे दिमाग में आया—एक प्रचार सभा की स्थापना की जाय। इधर-उधर चर्चा की। श्री राधामोहनजी से भी कहा। आपने कई नाम बतलाये, जिनमें मैं श्री राधानाथजी रथ से थोड़ा परिचित था।

एक दिन घूमते-घामते मैं समाज-कार्यालय गया। वहीं श्री राधानाथजी रथ से भेंट हो गई। मैंने कहा—मेरी इच्छा है कि यहाँ एक 'उत्कल प्रान्तीय हिन्दी प्रचार सभा' की स्थापना की जाय। राधानाथजी मेरे मुख की ओर दो मिनट तक देखते रहे और बोले—यह तो सर्वोत्तम काम होगा। चलो स्वामीजी के पास चलें। उनको ही सभापति बनाया जाय। स्वामीजी एक नामी वकील हैं।

स्वामीजी कौन हैं, मैं जानता न था। परिचय पूछा भी नहीं। वहाँ जाने पर परिचय तो मिल ही जायगा, यह सोच चुप रहा।

रथजी और मैं दोनों स्वामीजी के पास गये। उन्होंने सबेरे का जलपान कराया। कोरा-पेड़ा (नारियल का लड्डू) और घी से भूँजे चूड़े तथा चीनाबादाम खिलाये। रथजी ने आने का उद्देश्य कहा। स्वामीजी ने कहा—ठीक है। मेरी आपत्ति नहीं है। और उन्हींके सामने एक कागज में लिखा गया :—

स्वामी विचित्रानन्द दास	सभापति
श्रीयुत राधानाथजी रथ	मन्त्री
श्रीमती रमादेवीजी चौधरी	कोषाध्यक्ष
श्री रङ्गलालजी मोदी	सभ्य
श्री सत्यनारायण सेनगुप्त	सभ्य
श्री नन्दकिशोर दास	सभ्य
श्री राजकृष्ण बोष	सभ्य
श्री लक्ष्मीनारायण साहु	सभ्य
श्री अनसूया प्रसाद पाठक	सभ्य

और भी कुछ आदमी ले सकेंगे। इसका प्रथम उत्सव रामनौमी के दिन मनाया जाय, तय हो गया।

यह अस्थायी समिति बन गई। अब सवाल था एक घर लेकर कार्यालय करने तथा पढ़ाने के लिये स्थान का। परन्तु घर भाड़े के लिये रुपये कहाँसे आयेंगे, और सुविधाजनक घर ही कहाँ मिलेगा? परन्तु घर मिलने में देर नहीं हुई। घर है, लेकिन वह एक तो बेमरामत है दूसरे बेहिफाजत का है। लोग उसमें नहीं जाते। कोई भाड़ा भी नहीं लेता, कहते हैं—उसमें भूत रहता है। मैंने कहा—यह उत्तम है। एक कोने में भूत-देव रहेंगे और एक कोने में मैं। उनके रहनेसे घर की रखवाली भी रहेगी। मैं तो घूमता रहूंगा, घरमें कौन रहेगा?

१२ रुपये मासिक पर दोतल्ला घर बांकाबाजार में मिल गया। वह घर अभी भी है, लोग उसमें रहते हैं।

में रहता और उसी रुपये से मरम्मत करता। घरवालोंने जब तक में था याने सन् १९३३ से १९३७ तक रुपये नहीं लिये। केवल मरामतमें कट जाते। रुपये तो थे नहीं। श्रीमती रमादेवी घर-भाड़े की रकम देती। मैं बनानेमें खर्च करता था। अब वह मनुष्यों के रहने लायक बन गया। सभा की मीटिंगे वहीं होती और क्लासें भी चलाई जाती। हरिजन कार्यालय भी वहीं था।

राष्ट्रभाषा का काम चल निकला। समय पर उत्सव हो गया। वही मन्त्री, सभापति तथा सभ्य थे। श्रीयुत जानकी बोष (नेताजी सुभाषचन्द्र बोष के पिता) ने उत्सव का उद्घाटन किया था। यह महान् आशीर्वाद था। २-३ साल में दो-तीन मन्त्री बदले, परन्तु सभापति वही बने रहे।

घर-भाड़ेका प्रश्न विचारणीय था। एक रोज स्वर्गीय श्री जीवरामजी भाई सभा-कार्यालयमें आये, देखा, सुना। बोले—मैं ६० रुपये दूंगा, ६ मास तक, लेकिन तुमको रोज एक घण्टा चर्खा कातना पड़ेगा। मैंने यह मजदूरी स्वीकार कर ली। मजदूरी मजे की थी, मेरा सूत मेरे पास रहेगा। लेकिन सूत कातना उनकी आज्ञाका पालन था।

यह क्रम जारी था। मैं बहुत साल तक सूत कातता रहा। उसमें एक प्रकार जीवनको शान्ति मिलती थी। लेकिन एक बार की बात है—गान्धी-जयन्ती में 'हरिजन सेवक संघ' को सूत देना था। मैंने सूत तो दे दिया साथ ही साथ चर्खा भी दे दिया। उस दिन से फिर चर्खा कातना

छूट गया।

जीवराम भाई खद्दर के अनन्य भक्त थे। उत्कल खादी प्रचार के लिये आप एक लाख रुपये दान कर चुके थे और साथ ही साथ हिन्दी प्रचार के भी परम भक्त थे।

वे बीमार थे, बहुत दिनों तक बीमार रहे। और शेष में चले भी गये। उनका एक पत्र मुझे मिला—तुम भद्रक आओ। हिन्दी की कुछ पुस्तकें हैं, अपने पुस्तकालयके लिये ले जाओ।

लेकिन दुर्भाग्य की बात थी कि पत्र पाने के चार दिन प्रथम उनकी मृत्यु का सम्बाद समाचार पत्रों में पढ़ चुका था। वे चले गये, लेकिन उनका नाम यह खद्दर गा रहा है। उनके आश्रम के संचालक श्री ईश्वरलाल व्यास उनके नाम का, कामका झण्डा उड़ा रहे हैं।

प्रथम हिन्दी परीक्षा-केन्द्र

इसी समय गान्धीजी ने हरिजन आन्दोलन शुरू कर दिया। यहाँ पर भी आश्रम बन गया था। श्रीमती रमादेवी तथा श्री गोपबंधु चौधरी आदि इसी काम में लगे। नारी आश्रम बना। उनका काम था भंगियों की बस्ती में जा-जाकर घर पायखाना आदि साफ करना तथा उनके बालकों को शिक्षा देना। मैं इसी आश्रमकी महिलाओं को हिन्दी पढ़ाता था। इन महिलओं में गोपबाबू की कन्या अन्नपूर्णा भी थी। वह बुद्धिमती तथा स्वभाव की जिज्ञासु थी। अच्छी हिन्दी जानती थी। मैंने उसीसे प्रथम पूछा कि वह हिन्दी परीक्षा देगी तो? उसके साथ और भी तीन बालिकाएँ तैयार हुई। इनका नाम सुनकर श्री मनमोहन चौधरी (आज ओड़िशा के भूदान नेता), श्रीयुत सुरेंद्रनाथ द्विवेदी (आज ओड़िशा के प्रजा सोशलिस्ट नेता, एम० पी०) और बनमाली मिश्र (आज सभा कार्यालय के कार्यालय-मन्त्री तथा प्रधान प्रचारक) इस प्रकार हिन्दी साहित्य सम्मेलन की प्रवेश परीक्षा में ७ परीक्षार्थी शामिल हुए। परीक्षा केंद्र था वही नया भाड़े का घर।

घरके हो जाने से भोजन हाथ से पकता। मैं अब स्वपाकी था और चौबीस घंटे में एक ही वक्त भोजन बनाता था। स्वामीजीकी कृपासे स्टोव मिल गया था। उसीसे दाल-भात, तरकारी बनाता था और शामके लिये २–३ परोठे बना कर रख

देता। इसी स्टोव में अतिथियोंका भोजन भी बनता। जिनमें श्री मोहनलाल गौतम (मन्त्री, उत्तर प्रदेश), पं० बनारसी दास चतुर्वेदी, एम० पी० आदि जैसे आये हैं। यह घर अब कांग्रेस कार्यक्रम, हरिजन सेवा और क्रांतिकारियों के समागम का केंद्र बन गया था। शाम को ८ बजे के बाद चर्चाएँ होतीं। बाकी समय तो मुझे हिन्दी पढ़ाने से फुर्सत नहीं थी। यह काम मुझे पसन्द आ गया था, स्वराज्य की एकता का एकमात्र सूत्र राष्ट्रभाषा है। अब मुझे इसमें विश्वास हो गया था। लेकिन इसके साथ-साथ भारत से अंग्रेजों को निकाल देना भी प्रधान काम था। यह मुझे भी पसन्द था। मैं अपने को अहिंसा का पूर्ण उपासक नहीं मानता था। मैं उसे समझता ही नहीं था। लेकिन मारने में जहाँ अपनी ताकत काम नहीं करती वहाँ अहिंसा का पालन करना चाहिये।

जो हिंसा करके मर चुके थे, फांसी पा चुके थे, उनके प्रति मेरी हमदर्दी थी, भक्ति थी और उनका मैं पुजारी भी था। जब मैंने पढ़ा कि दस छात्रोंने काकोरी ट्रेन खड़ी करके सरकारी खजाना लूट लिया था तो उनकी बहादुरी का मैं पूर्ण बखान करने लगा था। "काकोरी-षडयंत्र" पुस्तक मंगा लिया। हालांकि वह जब्त थी। पास में रखना जुर्म था। 'भारत में अंग्रेजी राज' जैसी कितनी पुस्तकें मेरे पास थीं। मैं उनको लोगोंको पढ़नेके लिये देता था। फिर उस पर चर्चा करता था। इस चर्चा से मुझे बेहद खुशी होती थी।

एक हिंसा-प्रेमी देशसेवक कार्यालय में

मैं नवद्वीप में था। वहीं नमक-सत्याग्रह करके जेल गया। नमक-कानून तोड़नेके डण्डे कितने हल्के होते हैं मुझे भली भांति मालूम है। उसका धक्का कभी-कभी आज भी पुरवैया के चलने से मालूम देता है।

नवद्वीप में रहते मेरा कितने क्रांतिकारियों से परिचय हो गया था। मैं यहां था लेकिन सम्बन्ध वना था। आदमी आते। उसी आवाजाही में श्री रवीन्द्रकुमार घोष से भी परिचय हो गया। वे हमेशा आते और ११–१२ बजे रात तक रहते गप्पें मारते। इन गप्पोंके भाव न तो विलासी थे न ललित ही।

एक रोज एक आदमी आया और एक चिन्हारी दी। मुझे अब उससे बातें करने में कोई शक नहीं मालूम दिया। उसने कहा—विपिन गांगोली आज रातको आपके पास आते हैं। बंगालमें अब उनको रखना खतरे से खाली नहीं है। पकड़ाने वाले को दस हजार का इनाम है—जिन्दा हों चाहे मृत।

इसके पहले मैंने उनको एक-दो बार देखा तो था, लेकिन इतनी बड़ी मूल्यवाले हैं अभी मालूम दिया। मुझे डर नहीं लगा। बल्कि हृदयके सारे तार झनझना उठे। स्थानकी खोज में बुद्धि दौड़ लगाने लगी। मेरे पास वे एक रात तो रह सकते हैं, लेकिन सबेरा होते ही प्रश्न की वस्तु बन जायेंगे और छिपाना भी मुश्किल हो जायेगा।

इस बीच मैंने चार युवकों से प्रतिज्ञा-पत्र में सही तो कराया था, लेकिन परीक्षा लेने का समय नहीं था। मैंने रवि घोषको बुलाया और उन चारों का नाम बतलाया। गांगोलीजी आते हैं—उनको भी मुझसे पहले मालूम हो गया था। कारण गांगोलीजी के स्थान की खोज के लिये तीन आदमी ओड़िशा आये थे और तीनों तीन जगह गये, बिना किसी को मालूम कराये।

नियत समय पर गांगोलीजी आ गये। रातको सोने का काम तो था नहीं। मैंने चार युवकों को भर्ती करनेकी बात उनसे कही। परन्तु कसौटी पर कसे नहीं गये। लेकिन युवक अच्छे हैं, उत्साही हैं। स्वराज्य-प्रेमी हैं, कीमत चुकाने वाले हैं।

गांगोलीजी ने कहा—अच्छा, तो उन लोगोंको बुला लो। मैं आधे घंटे में परीक्षा कर लूँगा। पर मेरा नाम उनको मालूम न हो। किसी को भी नाम न कहना।

थोड़ी देर में चार युवक पकड़ मँगाये गये, परिचय कराये—इनका नाम मुरलीधर है और इनका राधेश्याम। दोनों ओड़िया युवक हैं। और ये बंकिम और सुधांशु बंगाली हैं। इन पर कामका विश्वास किया जा सकता है।

वे बातें करने लगे। बंगला बोलते। मुझसे भी बंगला बोलते। यों तो हिन्दी भी बोल सकते थे। उनका व्यक्तित्व विशाल था। गौर वर्ण, लम्बा कद, स्थूल शरीर और अंगार-सी चमकती आँखें बड़ी ही भयावनी लगती थीं।

मैं नीचे की ओरसे चौकन्ना था। जैसे-जैसे सूर्य की किरणें मेरे निवास की ओर सरकती आ रही थी वैसे-वैसे चिन्ता और भयानक दायित्व बढ़ रहा था। पकड़ा जाना एक क्रांति-कारी के लिये लज्जा की बात थी। अपमान का विषय था। और दायित्वशून्य अविश्वास का पात्र बनना भी था। यह एक गुरुभार मुझ पर प्रथम आ पड़ा था। सभी की निगाहें मुझ पर थीं।

गांगोलीजी ने कहा—पाठकजी, भोर हो रहा है, परन्तु चिन्ता नहीं। यहाँ मुझे कोई जानता भी नहीं। जाड़े के दिन हैं, कम्बल ओढ़े पड़ा रहूँगा। लेकिन यहाँ एक असुविधा है। इस दोतल्ले से मैं भागना चाहूँ तो भागने का स्थान नहीं। मैं नीचे रह सकता हूँ। रास्ता एक ही है या दो?

मैंने कहा—दो। एक आम और एक मेहतर के आने जाने का।

गांगोलीजी—कोई बात नहीं। हमारे शास्त्र में मेहतर ब्राह्मण का सवाल ही नहीं है।

मैं मुरलीधर को एक तरफ ले जाकर कहा—इनको ऐसे स्थान पर रखना है जहाँ कोई जाने न पाये। जाने नहीं, यहाँ सावधानी से तुम को काम करना होगा।

मुरलीधर—मैं ऊपर के कमरे में रहता हूँ। वह मेरे पढ़ने का कमरा है। नीचे भाई की सोने-चाँदीकी दूकान है। सो हमारे जाने के मार्ग में कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

मैंने रविबाबू को बुलाकर कहा—आपने मुरली का

कमरा देखा है ?

रवि——हाँ, हाँ वह एकान्त है, केवल जब ये पढ़ने जायेंगे, उस समय चिन्ता की बात है।

मुरली——मैं नौकर को कह जाऊँगा, कोई ऊपर नहीं जायेगा।

रवि——यहाँकी अपेक्षा वह स्थान बहुत निरापद है।

मैंने कहा——चल देना चाहिये।

गांगोलीजी——पाठकजी, तुम हमको दूसरे के जुम्मे रख कर अपने को मुक्त न समझना।

मैंने कहा——नहीं-नहीं, मैं शाम-को आऊँगा। मुरली और रविबाबू के साथ मैंने उनको भेज दिया। अब मुझे शान्ति मिली। मनने कहा——देखो, कैसे चिड़िया चहचहा रही है।

स्नानादि से निवृत्त हो मैं हरिजन आश्रम को हिन्दी पढ़ाने गया। आज कुछ विलम्ब भी हो गया था। सभी क्लास में बैठीं हैं। मैं गया और जो कल लिखने का काम दिया था, माँगा।

उनमें अन्नपूर्णा जरा दबंग थी। उसने अपनी कापी बढ़ाते पूछा——आज आपका मुखड़ा लाल, आंखें लाल हैं; रात को क्या नींद नहीं आई ?

यह सुन मैंने उसकी ओर गौरसे देखा। अरुण आनन और तेजपूर्ण बड़ी-बड़ी आंखें थीं। लेकिन आज मेरी आंखों के तेज को वे सह न सकी। झट झुक ही गई। मैंने कुछ नहीं

कहा--फिर किसी प्रकार का प्रश्न नहीं किया। हिन्दी पढ़ाई खतम होने के बाद अन्नपूर्णा ने कहा--कोई राजनीतिक पुस्तक हो तो मुझे पढ़ने के लिये दीजिये।

मैंने उसको देखा। खुशी लगी, बोला--अच्छा, मैं दूँगा, लेकिन वह पुस्तक दूसरे किसीके हाथ न पड़े और चला गया।

मैंने १२ बजे तक नियमित चलनेवाली हिन्दी की पढ़ाई की। भोजन बनाया, खाया। लेकिन जो द्वन्द्व दिमाग में, बुद्धि और मन में मचा था, वह उस समयका पाठक ही जानता था। भोजन के उपरान्त ऊपर जाकर लेट रहा। स्थान की खोजमें नींद नहीं आई। हठात् श्री नवकृष्णजी चौधरी पर मनकी निगाहें गई। मुझे जरा खुशी हुई। कारण उनका एक फार्म है, यहाँसे (कटक से) ३०-४० मील की दूरी पर है। इनको वहीं रखा जाय तो उत्तम होगा। लेकिन कहें तो कैसे? किस प्रकार से बातों का सूत्र शुरू किया जाय। मनमें शक भी है कि वे अहिंसावादी कांग्रेसी हैं। कहीं काम बिगाड़ तो न देंगे। लेकिन बातचीत में उनकी सहानुभूति हिंसावादियों की ओर भी रहती है।

मैं घर गया, देखा वे अकेले बरामदे में बैठे हैं। मैंने कहा--एक सज्जन आये हैं, आपको कोई आपत्ति न हो तो आपके आश्रम अणखिया में कुछ दिन रहेंगे। शर्त यह है कि उनके बारे में कोई जाने नहीं। ये बंगाल से आये हैं, इतना आप जानें और अधिक जानना चाहते हैं तो ये राजनीतिक छिपे आदमी हैं।

नवबाबू बोले—छिपाते क्यों हो, मैं समझ गया। लेकिन नाम का परिचय नहीं दोगे तो कैसे मैं व्यवस्था करूंगा ?

मैंने कहा—ये विपिन गांगोली हैं।

नवबाबू बोले—हैं ! वे तुम्हारे पास कैसे आये ? तुम्हारा ऐसे भयानक आदमियों के साथ भी सम्बन्ध है ?

मैंने कहा—है, पुराना है। तो वहाँ जो आदमी है उसको पत्र लिख दीजिये।

नवबाबू—कब जायेंगे ?

मैंने कहा—समय का ठिकाना नहीं। आज भी, दो-चार रोज बाद भी और नहीं भी हो सकता है।

नवबाबू—तो जा कर उससे कहना ये शान्ति-निकेतन से आये हैं। बंगला बोलेंगे तो अपने आप समझ जायगा कि मालती देवी के घर का कोई होगा। मैं भी दो-चार दिन में जाऊँगा।

यह एक बड़ी भारी मुसीबत से रक्षा पाया। वहां रहना सबसे निरापद था। नवबाबू ने यह बड़ी भारी सहायता की। मैंने उनसे प्रार्थना की कि यह बात किसीको भी मालूम न हो।

शाम को जाकर मैंने गांगोलीजी से सारी बातें कहीं। वे बड़े खुश हुए। बोले—नवबाबू का नाम तो मैंने सुना ही था। फिर वहीं उनसे बात करने का मौका भी मिलेगा। लेकिन कलकत्ते को खबर करना है, २–३ दिन में आदमी आयगा तो सारी खबर मिल जायेगी। मझे बंगाल से संबंध बनाये रखना है।

मैं चुप नहीं बैठूंगा। मौका पाते ही हमारे आदमी अपने-अपने गन्तव्य स्थानों पर जाकर काम कर आयेंगे। कई लक्ष्य हैं। मैं जीतेजी अंग्रेजोंको या उनके पीढ़ियों को छोड़ूँगा नहीं। मैं शान्त नहीं होऊँगा। यह कहते उनकी आँखोंसे मानों अंगार बरसने लगा। तुम मेरे लिये चिन्ता भी मत करो। मैं समझ लूँगा। जो जीवन को हथेली पर लिये फिरता है, उसके लिये चिन्ता क्यों ? लेकिन योंही मर जाना बेवकूफों का काम है।

मैं वापस आ गया। दिमाग में द्वन्द्व था, और जोश भी था। ऐसा लगता था मानो हम कोई बड़ा भारी किला तोड़ कर आये हों।

रविबाबू मेरे साथ घर आये। १२ बजे तक बातें होती रहीं। फिर मैं उनको छोड़ने उनके घर तक गया। वे फिर मेरे घर तक साथ आये। इस आवा-जाही में तीन बजे, पुलिसवाले देखते थे। लेकिन मैं हिन्दी पण्डित था, और रविबाबू मेडिकल के छात्र।

सबेरे मैं 'काकोरी षडयंत्र' नामक पुस्तक पर कागज चढ़ा आश्रम गया और अन्नपूर्णा के हाथ में दिया। उसने उसे लेकर अपने बिस्तर में लपेट कर रख दिया। किसीको न दिखलाने के लिये पहले ही मैंने मना कर दिया था।

विपिन बाबू कटक में ५ रोज रहे। वे बंगाल में दादा नामसे सम्बोधित किये जाते थे। यहाँ भी यही नाम रखा गया।

हम रोज कभी शामको और कभी दोपहर को जाते। विपिन बाबू के पास तीन प्रकार के दाँतों का सेट था। उसको

मुखमें रख लेनेसे मुखाकृति बदल जाती थी। दाढ़ी-मूंछ तो थी ही।

वे बड़े गम्भीर और अपने विषय के पक्के ज्ञाता थे। उनमें असीम साहस था। एक रोज घूम कर लौटे ही थे कि मैं भी पहुँच गया था। बोले—अदालत के सामने मुझे एक आदमी गौर से देख रहा था। ऐसा लगता है कि मैंने उसे कहीं देखा है। अब यहाँ रहना ठीक नहीं, स्थान बदलो।

बात तो तय थी। राधेश्याम अपनी सायकिल पर पीछे बैठा ले भागा। मैंने कहा—सामान पीछे जाता है और उसका भार मुरली पर रखा गया।

शामको खबर मिल गई कि वे ठीक स्थान पर पहुँच गये हैं। नौकर को कह दिया है—ये श्रीमती मालती देवीजी के भाई हैं, कोई तकलीफ न हो। आज दिन के वक्त मैं मुर्गी का गोश्त बना कर खिला आया हूँ। मछली तो वहाँ रोज मिलती है।

कुछ दिन के बाद उनके साथ नवबाबू की मुलाकात हुई। नवबाबू उनसे मिलकर बहुत प्रभावित हुए। उनको वहाँ गांगोलीजी के रहने में कोई विरक्ति नहीं लग रही थी।

एक मास रहने के बाद सुधांशु के साथ गांगोलीजी को वाल्टर भेज दिया गया। यह सबसे निश्चिन्तता का काम था। मैं खुश था और नीरव भी था।

अब नवबाबू का घर भी इस चर्चा का केन्द्र बन गया। उनको भी इसकी खबर देते रहते। इस नीरस चर्चा को मिटाने के लिये बड़े मँगवाये जाते। इन बड़ों की खोज के लिये श्री परमानन्द महान्ति प्रथम रहते थे।

कार्यालय की खानातलासी

एक रोज की बात । रोज के समान आज भी मैं नवबाबू के घरसे लौट रहा था। चौधरीबाजार का खादी-भण्डार मेरा तीसरा स्टेशन था। वहाँ आया तो वकील लाला नगेंद्रकुमार रायने कहा——प्रफुल्ल चटर्जी आपका नाम पूछता था। सो मैंने कहा——सभी पण्डितजी-पण्डितजी कहते हैं। नाम तो मुझे भी नहीं मालूम ।

वह सी० आई० डी० विभाग का एक बड़ा अफसर है, और है देवघर-षडयंत्र का आविष्कारक। उसका नाम पूछना कुछ माने रखता है। तो जो आपत्तिजनक सामान हो, हटा दो।

मैंने कहा——मेरे पास क्या है ? कहने को कह तो गया लेकिन बहुत-सी जब्त किताबें हैं। यही काफी प्रमाण है, मसाला है । वहाँसे लौट मैं सारी पुस्तकें एक मुसलमान मित्र के घर रख आया । कुछ कागज थे, सो जला दिया और राख पानी के साथ नाले में बहा दिया और आकर सो रहा। अभी-अभी कुछ ही मिनट झपकियाँ आई ही थी कि बड़े जोर का हल्ला करते पुलिसवालों ने मेरे निवासस्थान को घेर लिया। मैंने ऊपर से देखा; पर न तो द्वार खोला और न कुछ बोला ही। लगभग ५ बजे द्वार खटखटाने की आवाज आई, ऊपर से मैंने देखा और पूछा——कौन हो

भाई ? उस समय मेरे ऐसे भाव थे, मानों मैं कुछ जानता ही न होऊँ। उत्तर मिला—द्वार खोलो। मैंने कहा—क्यों, बड़े सबेरे क्या काम है ?

पुलिस—खोलो, नहीं तो द्वार तोड़ देंगे।

मैंने कहा—द्वारने क्या बिगाड़ा है ? मैं खोलता हूँ, और नीचे जाकर द्वार खोल दिया। एक इन्सपेक्टर ने कागज दिखलाया, जो अंग्रेजी में था। मैंने कहा—मैं अंग्रेजी नहीं जानता।

एक आदमी ने पढ़ कर सुनाया। लिखा था—पुलिस को शक है कि यहाँ बागी रहते हैं, जो बगावत का प्रचार करते हैं। बम हैं, पिस्तौल है तथा ऐसे कामके प्रचार लायक साहित्य भी है।

मैंने १० पुलिसवालों की तलासी ली और अन्दर जाने दिया।

जाँच शुरू हुई। ६ बजे से १२ बजे तक जाँच होती रही। घर देखा, पायखाना और कुआँ देखा। सारे पुस्तकालय तथा पुस्तकों के पन्ने-पन्ने देखे, एक किताब में एक कागज था, जो प्रतिज्ञा-पत्र का नमूना था। परन्तु सौभाग्य से उसको मैं अपनी नई लिपि में लिख रखा था, जो किसी पढ़नेवाले की शक्ति के बाहर की बात थी। एक बिहारी सिपाही था, जो पढ़नेकी अथक चेष्टा कर रहा था।

इन्सपेक्टर ने मुझ से पूछा—यह क्या लिखा है ?

मैंने कहा—बारबाटी दुर्ग के संबंध में एक लेख लिख

रहा हूँ।

इन्सपेक्टर—पढ़िये तो—

मेरे लिये मुसीबत आई, पर चूँकि मैंने बारवाटी देखा था। पढ़ने लगा और हू-ब-हू पढ़ गया। मानो सारा इतिहास इसी लेख में हो।

पुलिस—"अच्छा, रहने दो।" यह कह वह प्रतिज्ञा-पत्र वहीं फेंक कर चले गये। कहा—कितना झूठा सम्बाद मिला है!

पुलिस चली गई। मैंने भगवान को धन्यवाद दिया। अगर इसी प्रकार उस रात छापा मारा होता, तो? खैर यह है कि वे अब तो ओड़िशा में ही नहीं हैं।

राष्ट्रभाषा कार्यालय की खानातलासी का सम्बाद कटक भर में, जंगल की आग की तरह फैल गया। स्थानीय समाचार-पत्रों में निकला। लोगोंके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। यह हिन्दी-पण्डित ऐसा व्यक्ति है, क्रांतिकारियों से संबंध बनाये हुए है। और सबसे आश्चर्य की बात यह है कि एक व्यक्ति इतने दिनों से रहता है, पर उसका नाम तक किसीको नहीं मालूम है।

उस दिन से लोग मेरा नाम पूछने लगे, और मैं पण्डितजी के साथ-साथ नवीनोंके लिये 'पाठकजी' भी बन गया।

गोपबाबू ने पोथी फाड़ी

यह खानातलासी गान्धी-वादियों के लिये, खासकर श्रीयुत गोपबन्धु चौधरीजी के लिये शक का विषय बन गया। गोपबाबू मुझसे बातें करना तक छोड़ चुके थे। हाँ, श्रीमती रमादेवीजी तथा छात्राएँ मेरा गूढ़ रहस्य जानने को उत्सुक रहतीं। गोपबाबू कभी-कभी हिन्दी-क्लास के बगलवाले बरामदे से सुनते कि मैं क्या पाठ पढ़ाता हूँ? मैं लक्ष्य रखता था कि वे मुझसे चौकन्ने हैं। पुस्तक तथा कागजों के आदान-प्रदान पर भी उनकी निगाहें रहतीं। दुर्भाग्य से एक दिन रात को गोपबाबू ने अन्नपूर्णाजी के हाथ में 'काकोरी षडयंत्र' नामक पुस्तक देख ली। हाथ में ले, उलट-पुलट करके देखा। उसमें चित्र थे, जो भयानक लगते थे। उनके क्रोध का पारा सीमा टप गया। पुस्तक के टुकड़े-टुकड़े करके जमीन पर फेंक दिया। अन्नपूर्णा भय के मारे चुपचाप देखती रही।

क्रोधियों में गोपबाबू को, लोग दुर्वासा का कलियुगी अवतार मानते हैं। घरवालों की बात ही दूसरी है। किसीकी हिम्मत ही नहीं पड़ती कि कोई कुछ कहे। यों तो गोपबाबू गांधीवादी हैं। उनके समान निष्ठापर स्वाधीनचेता व्यक्ति उत्कल में कम हैं। जो उनको पसन्द नहीं होता, उसके लिये वे कभी भी प्रोत्साहन नहीं देते, चाहे भला लगे चाहे बुरा। पुस्तक मेरी फाड़ फेंकी थी। तीन दिन बाद मैंने उसे समेट कर एक

जगह रखी देखी। मैंने अन्नपूर्णाजी से पूछा तो कारण, कार्य और कर्ता का नाम मालूम हो गया, जिसकी चर्चा मैंने पहले की है। मैं क्लास बंद कर चला आया, और दो-तीन दिन क्लास में पढ़ाने नहीं गया। श्रीमती रमादेवीजी ने बुलाया। मैं उनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सका। वहाँ जाने पर गोपबाबू का संदेश मिला—हिन्दी पण्डित को अगर उस पुस्तक के लिये मन में कष्ट हो तो मैं उसकी कीमत दे दूंगा। मैंने सन्देशवाहक से कहा—अगर गोपबाबू उसका मूल्य अनुभव करते हैं, तो फाड़ा ही क्यों?

मेरा यह उत्तर ठीक नहीं था। यह मेरी उद्दण्डता थी और अशिष्टता भी। परन्तु श्रीमती रमादेवीजी की तथा गोपबाबू की मुझ पर कृपा थी। अतएव सब मन का मलाल मिट गया। बल्कि पहले की अपेक्षा मैं अपने को उनके अधिक निकट पाया।

मैं दस दिन बाद बूढ़ीमाँ (गोपबाबू की माताजी) से मिलने गया। वे अपने घर में ही रहतीं। देखते ही ओड़िया में बोलीं—अरे हिन्दी, तू कहाँ गया था? और झट पुरी का महाप्रसाद लाकर बोलीं—ले, बैठ जा, खा। उनके सामने कोई भी न नहीं किया करता। गोपबाबू की माँ जो ठहरी, और वे गोपबाबू, जिन्होंने कि क्रोध में आकर मेरी पुस्तक फाड़ फेंकी है। उसी समय नवबाबू ने बूढ़ीमाँ से कहा—भाईने हिन्दी की पुस्तक फाड़ दी है। इसलिये रूठा था, आता नहीं था।

बूढ़ीमाँ—क्यों, फाड़ी क्यों? यह तो अन्याय है। पुस्तकने क्या बिगाड़ा था?

मेरी दिनचर्या

सभाका कार्य दिन-दिन बढ़ता गया। मैं घर घर घूम-घूमकर पढ़ाता था। उनमें बालिकाएँ अधिक रहती थीं। मेरे पास पैसा नहीं था। अभाव में रमादेवीजी उसकी पूर्ति करती थीं। मेरा ख्याल है, मैं उस समय भोजन में १० रुपये से अधिक नहीं खर्च करता था। इसमें मेरा मासका अन्य खर्च भी है, केवल भोजन ही नहीं था।

मेरा कार्यक्रम था—सबेरे काठजोरी नदी में स्नान करना। एक सुराही साथ ले जाता, उसमें पानी भर कर लाता, और उससे दिन भर का काम चलता। स्वास्थ्य के लिये कुएँ का पानी वर्जित था। मैं जरा इससे सावधान रहता था।

शाम के समय जहाँ जाता, नाश्ता मुझे जरूर मिलता। और मना करने पर भी शिष्टता के वश हो खाना पड़ता था। कितनी हमदर्दी उस समय मुझ पर थी, माताओं और बहनों की! मैं आज उसकी कल्पना तक नहीं कर पाता। मैंने कभी भी यह अनुभव नहीं किया कि मैं विदेश में हूँ, और अभाव में हूँ, और मुझे अमुक वस्तु चाहिये।

सभा बन गई थी। सभी सभ्य एक-एक रुपये देते, जिससे भाड़े का काम चल जाता। लेकिन मकानवाले ने न तो कभी मांगा और न मैंने कभी दिया। दो-चार-छः मास में मरामती खर्च का हिसाब भेज देता, वह चुप रहता। यह उसका त्याग

था और बीचमें थे श्री बनविहारी पालित। घर पुरी के किसी बंगाली सज्जन का है। जो सन्तोष किये बैठा है। उसे भगवान् ने अभाव में नहीं रखा है, यह मेरा विश्वास था।

मेरे निवास के एकदम पड़ोसी था एक बड़ावाला। उसके बड़ों से मैं अपने अतिथियों का सत्कार किया करता। ऊपर से पुकार कर कहते ही कड़ाही चढ़ जाती। मैं अधिकांश समय अपना निर्वाह उसीके बड़ोंसे करता। आलस्य के साथ वही पेट का सहारा होते। कितने बढ़िये बड़े बनाता था वह ! इन बड़ों से मैंने कई बार नवबाबू, श्रीमती मालती देवी तथा बुलू बाबू का स्वागत कर चुका हूँ।

गान्धीजी से मुलाक़ात

१९३४ में बिहार के भूकम्प के कारण सभी बन्दी खलास हो गये थे। गान्धीजी हरिजन कामके लिये उत्कल आते हैं। 'मैं उनसे मिलूँगा' यह मेरी आन्तरिक अभिलाषा थी, कामना थी।

मैं गान्धीजी के उत्कल आगमन की इन्तजारी बड़े आग्रह के साथ करने लगा। वे समय पर आए और सीधे पुरी चले गये। पता लगा, गान्धीजी हरिजन काम के लिये पुरी से पैदल चलने वाले हैं। नाम रखा है हरिजन पदयात्रा। अब मुझे संतोष हुआ और विश्वास हो गया कि मैं उनसे मिल सकूँगा, और एक रोज मिलने चला।

मैं साक्षीगोपाल पहुँचा। उस दिन गान्धीजी का प्रथम पड़ाव साक्षीगोपाल में था। मैं वहाँ गया। महादेव देसाई से मिला। वे ही गान्धीजी के सेक्रेटरी थे। मैंने कहा—मुझे गान्धीजी से मिलना है।

महादेव भाई ने कहा—बहुत काम है। समय मिलना सम्भव नहीं।

मुझे यह अच्छा नहीं लगा। मैंने सोचा—बड़े-बड़े आदमियों को तो मिला देते हैं, पर मुझ-जैसों के लिये समय नहीं है। मैं रुका रहा। मनमें रंज था। न मालूम किसकी प्रेरणा से, मैं १० बजे गान्धीजी की कुटिया के द्वार पर दाखिल हो गया।

कुछ सोचा भी नहीं था। देखा, मीराबहन भोजन परोस रही हैं। गान्धीजी ने द्वार की ओर देखा——मैंने एक ही श्वास से कहा——मैं यहाँ हिन्दी भाषा का प्रचार करता हूँ। आपसे कुछ तकलीफें निवेदन करूँगा; पर अभी नहीं, समय दीजिये।

गान्धीजी ने कहा——तुम यहीं रहो। कल सबेरे जब पैदल चलेंगे तब मार्ग में बातें कर लेंगे।

मैंने शिर झुका कर नमस्कार किया और वापस आ गया। मुझे लगता है, इस प्रश्नोत्तर में ३०–४० सेकेंड से अधिक नहीं लगे होंगे।

किसी को कुछ भी मालूम नहीं था। मैंने किसी से चर्चा भी नहीं की कि गान्धीजी ने मिलने के लिये कल समय दिया है। मैं वहीं रुका रहा, गान्धीजी के भण्डारा में भोजन किया। वहाँ मुझे असुविधा नहीं हुई, कारण, इस भोजन की व्यवस्था में श्रीमती रमादेवी जी थीं।

मुझे लगा कि गान्धीजी को क्या यह बात याद रहेगी? काम नहीं बनना है। चल भाई पाठक! चल कटक वापस। हिन्दी के पण्डित वने हैं। 'घर में भूँजी भांग नहीं, अम्मा चली भुजाने।' कबीर की भाषा में अगर कहें, तो कहना चाहिये—— 'चहिये अमिय पर जुरे न छाछू'। इस प्रकार हरौगुनौ करते, जाऊँ कि रहूँ – जाऊँ कि रहूँ करते रात आई, सबेरा हो गया। चिन्ता हुई——गान्धीजी को कैसे याद दिलाऊँ?

सबेरे का नाश्ता खतम करके गान्धीजी का काफिला साक्षीगोपाल के गुड्डे में गया। गान्धीजी ने गोपबाबू से कहा——

यहाँ उत्कल में जो हिन्दी का प्रचार करते हैं, कहाँ हैं ? बुलाओ।

मैं उनकी याददाश्त पर दंग रह गया। मुझे विश्वास नहीं था कि वे इतने विशाल झंझट में मेरी इस जरा-सी बात को याद रखेंगे ? मैं गान्धीजी के पास गया। मेरे पहले बाबा राघवदास गान्धीजी के पास-पास चल रहे थे। उन्होंने कहा––बापूजी, हमने कल पुरी में एक हिन्दी प्रचार समिति बनाई है।

मैं––एक प्रचारक भेज दूँगा।

ठीक है, गान्धीजीने कहा––हाँ, तुम्हारा क्या कहना है ?

मैं––यहाँ दो साल से हिन्दी का प्रचार करता हूँ। सभा बनी है। सभा के सभी सभ्यों का नाम कह सुनाया।

गान्धीजी ने कहा––बाबाजी, इसकी सभा में ओड़िशा के सभी आदमी हैं। यह काम करता है। इसलिये दूसरी समिति बनाने की जरूरत नहीं है। अधिक समितियों से काम नहीं होता। (मेरी ओर देख कर) हाँ तो और क्या बात है ?

मैंने कहा––काम तो करता हूँ, लेकिन मेरे खर्च का इन्तजाम कुछ भी नहीं है। घर-घर घूमकर भोजन करता हूँ। और हिन्दी पढ़ाता हूँ।

गान्धीजी ने मेरी ओर गौर से देखा और कहा––खर्च की व्यवस्था नहीं होती तो मैं व्यवस्था कर दूँगा। तुम मेरे साथ भद्रक चलो। वहाँ बसन्तलाल मुरारका मुझसे मिलने आनेवाले हैं। मैं उनको कहूँगा, वे रुपये देंगे। कितने से काम चल

जायगा तुम्हारा ?

मैंने कहा—जो भी हो, बीस-तीस-चालीस रुपये मिल जाये तो उत्तम ।

गान्धीजी—मैं दिलाऊँगा । और ?

मैं—इस साल हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की परीक्षा में ७ परीक्षार्थी बैठे थे, उनमें से ५ पास हुए हैं। आपके हाथ उनको पुरस्कार और प्रमाण-पत्र दिया जाना चाहिये।

गान्धीजी—यह भी मंजूर! कटक में ही होगा तो?

"जी हाँ", मेरा गला भर आया। मुझे कितनी बड़ी सफलता मिली है! मेरा मन बाँसों उछलने लगा। मैं उस समय की अपनी प्रसन्नता का वर्णन नहीं कर सकता। लेकिन मैं बेहद खुश हुआ। मैंने कहा—भद्रक में मैं कैसे मिलूँगा? मुझे तो आपके आदमी घुसने ही नहीं देते।

गान्धीजी मुस्कराकर बोले—तुम जब देखना कि बसन्तलालजी मेरे पास हैं, तो चले आना। मैं कह दूँगा, तुमको कोई रोकेगा नहीं।

चलते हुए गान्धीजी ने जिस प्रेम से मेरे मुख की ओर देखा, मैं उसका चित्र नहीं खींच सकता। लेकिन मेरे अन्तर में, यह छवि आज भी अंकित है। वह मातृ-पितृ-वत् स्नेह, जिसको देख कर, पाकर मैं गद्गद् हो गया था, कह नहीं सकता। उनके सामने मैंने अति सरलता से, सच बातें रखीं थीं। मुझे कितने साल के बाद अनुभव हुआ कि मैंने गान्धीजी के सामने जो कहा था, वह सत्य-शिव-सुन्दरम् था। इसीलिये गान्धीजीके दिल को

वह छू सका था। कितनी बड़ी विजय थी यह मेरी। मैंने जो उस समय निवेदन किया था, सभी मंजूर हुआ। मेरे पास कहने के लिये और कुछ भी नहीं था। जो भी था, उसको मैं स्नेह में भूल गया था, उस स्नेह-सिक्त शबनम के बूंद के साथ बह गये।

गान्धीजी कटक आये। प्रमाण-पत्र तथा पुरस्कार गान्धीजी के हाथों परीक्षार्थियों ने पाया। लेकिन पुस्तकें, उसी समय हरिजन फण्ड के लिये माँग ली गई, और आम नीलाम में चढ़ा दी गई। ठीक याद नहीं, लेकिन शायद आठ सौ रुपयेका अन्तिम बोल था हिन्दी पुस्तकों का।

गान्धीजी के साथ मैं पैदल नहीं गया। जिस दिन भद्रक जाना था, मैं उसी दिन पहुँचा। सबेरे का समय था। श्रीयुत हरेकृष्णजी महताब के घर के सामने वाले मैदान में लोग जमा हुए। मैंने देखा, श्री बसन्तलालजी मुरारका गान्धीजी के पास बैठे हैं। मैं सीधे चला गया। पथ में किसी ने आज नहीं टोका। जाते ही गान्धीजी ने बसन्तलालजी से कहा—ये हिन्दी प्रचार करते हैं। इनके पास पैसे नहीं हैं। मैं दूंगा या तुमलोग भेजा करोगे? इनकी माँग प्रथम २० की, मध्यम ३० की और उत्तम ४० रुपये की है। मैंने उत्तम, ४० को ही पसन्द किया है।

"तो हमलोग मासिक ४०) रुपये नियमित भेजा करेंगे।" बसन्तलालजी ने कहा।

मेरी ओर देख कर गान्धीजी ने कहा—बस, अब काम

करो और मुझे खबर देते रहना।

मेरे पास कहने के लिये कुछ नहीं था। गान्धीजीने मेरी माँग स्वीकार कर ली। ४० रुपये मासिक मिलने पर मैंने २० रुपये अपने लिये रखा और २० रुपये पुरी को देकर वहाँ एक नया प्रचार-केन्द्र खोला। अब मैं नियमित भोजन बनाता। हिसाब लिखने के लिये मैंने श्री बनमाली बाबू को बुला लिया था। वे खादी-भण्डार में रहते थे। वे रोज एक घण्टा हिसाब लिखते और हिन्दी पढ़ते थे। इसके लिये वे कुछ नहीं लेते और न मैं ही उनसे कुछ लेता था। इसी समय श्री राधेनाथ जी भान भी हिन्दी पढ़ने आने लगे। वे प्रथमा पढ़ते थे और अभी-अभी कनवेण्ट में हिन्दी शिक्षक का काम भी पाया था। ये दोनों व्यक्ति मेरे साथ घर-बाहर के सभी कामों में भी मददगार रहते थे। वे दोनों में एक तो सभा के लिये रात का समय देते और भानजी अपना बचा समय सभा को देते। भानजी से लोग प्रश्न भी करते—सभा आपको क्या देती है? जो इस प्रकार सारा छुट्टी का समय सभा को ही देते हैं। हालाँकि उनको कभी मिलता नहीं है। वे तो आजकल अखिल भारतीय रेडियो आफिस में काम करते हैं। काफी रुपये भी पाते हैं और सभा के साथ का सम्बन्ध अभी तक पूर्ववत् है।

गोपबाबू का बरी प्रस्थान

सभा का काम दिन-व-दिन बढ़ने लगा। ४० रुपये मिलते ही मैंने पुरी में एक केन्द्र और खोला। बाबा राघवदास जी ने एक आदमी भेजा था।

प्रति साल सभा का जलसा भारत के किसी न किसी महानुभाव के सभापतित्व में होता।

गान्धीजी की पदयात्रा से एक बड़ा भारी तूफान आया, चौधरी परिवार में। गोपबाबू प्रथम दर्जे के जिला कलक्टर थे। बरी में बड़ी जोर की बाढ़ आई। बहुत जान-माल की क्षति हुई थी।

सरकार की ओर से गोपबाबू बाढ़-पीड़ितों की हालत देखने गये। उनका दिल भर आया। आपने जैसा देखा था, वैसा ही सरकारी रिपोर्ट में दर्ज कर दिया। सरकार ने उसको बदल कर नरम करने के लिये कहा। गोपबाबू ने कहा—मैंने जो लिखा है, वहाँ की हालत और भी खराब है। अतएव मैं अपनी रिपोर्ट नहीं बदल सकता। आपने सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। गान्धीजी ने बरी में जाकर जब यह इतिहास सुना तो कहा—गोपबाबू तुमको तो अपना कार्यक्षेत्र यहीं बनाना चाहिये।

"यह सेनापति का आदेश है"—मानकर गोपबाबू ने जैसे ही गान्धीजी को ओड़िशासे बिदा किया, वैसे ही सीधे कटक

आये और सब आश्रमवासियों से कहा—कौन-कौन मेरे साथ बरी चलता है ? सभीने हामी भरी।

सबेरा होते ही प्रार्थना करके सब पैदल चल पड़े। साथ में श्रीमती रमा देवीजी, कन्या अन्नपूर्णा, पुत्र श्री बुलूबाबू (मनमोहन चौधरी) और आश्रम के अन्य महिलाएँ तथा पुरुषों ने अपने-अपने बिस्तर पीठ पर बाँधे और चल दिये। भ्राता नवबाबू खड़े तमाशा देखते आँसू बहाते रहे। श्रीमती मालती देवी ने भी जेठ-जेठानी का कटक-त्याग करते देख आँचल से आँसू पोंछे। कटक के अन्य परिजन, बन्धु-हितैषियों ने भी यह आश्चर्यजनक तमाशा देखा। मैं ने भी देखा। मुझे तो यों लगा मानों मेरा कलेजा खींचे लिये जा रहे हों। श्रीमती रमादेवी जी मेरे लिये एक बलिष्ठ अभिभावक-सी थीं।

मैं कटक में रोज पैदल दस मील का चक्कर लगाता। हमारे सभा के सभ्यों को दया आई, खासकर स्वामी विचित्रानन्दजी दास को। आपने परामर्श दिया—एक सायकिल खरीद लो, सभा के खर्च में वह आ जायेगी। मैंने सायकिल ले ली और सीख भी ली। अब मेरा काम आसान हो गया। कुछ आराम भी मिलने लगा।

प्रेमचन्दजी की प्रेरणा

अब शान्ति मिली। कुछ साहित्य की ओर रुचि गई। 'विशाल भारत' में कई लेख लिखे। एक लेख 'हंस' को भेजा। प्रेमचन्दजी का पत्र मिला--"लेख मिला, वह 'हंस' में छपता है। मेरी इच्छा है उत्कल साहित्य के संबंध में कुछ लेख लिख डालो।" आपने कई शीर्षक भी लिख भेजा। फलस्वरूप मैंने उनके आदेश पर कई लेख लिखे। मेरा ख्याल है, अगर वे २-४ साल और जिन्दा रहते तो मैं भी एक बड़ा लेखक बन जाता। उनकी सहृदयता से मेरे शुष्क जीवन में रस का संचार हो गया। उनकी कृपा से मैंने कितनी ओड़िया पुस्तकें पढ़ीं, देखी, पद्य पढ़े, नाटक देखे, यात्रा और पाला देखा। उपन्यास और कहानियाँ पढ़ीं और समालोचना की निगाह से पढ़ीं। मन्दिरों के दर्शन में मैं उनको सौंदर्योपासक की निगाह से देखा। गाँव में जाता, वहाँ लोगों से मिलता तथा गाँव के साहित्य को जानने की कोशिश करता। मुझे इससे रस मिलता।

१९३४-३५ की बात थी। काठजोरी से, नानी कहो चाहे दादी हम खूब परिचित थे। गरमी के दिन थे। प० बनारसी दास चतुर्वेदी और प० विष्णुदत्त शुक्ल कटक आये हुए थे। चतुर्वेदीजी बड़े विनोदी और जिज्ञासु जीव हैं। मैं उन दोनों को साथ लेकर काठजोरी में स्नान करने गया। काफी दूर ले गया, लेकिन पौली के सिवा डूबने लायक पानी कहीं नहीं था।

मूँड़ मार कर एक जगह किनारे धोतियाँ रखीं। तीनों धार में लेट गये। चतुर्वेदीजी आगरे के चौबे हैं। पास ही मथुरा-वृन्दावन है। इतने से पाठक समझ लेंगे। चौबेजी स्नान करने के लिये धार में पट सोते हैं तो पीठ नहीं भीगती और चित्त सोते हैं तो पेट नहीं भीगता। बड़े ही मजे का रौनकपूर्ण नजारा था। चौबेजी ने विनोद में कहा——शुक्लजी, मेरे घर तार कर दो कि चौबेजी काठजोरी में गाँठजोरी कर रहे हैं। मैं और शुक्ल जी दोनों मारे हँसी के लोट-पोट हो गये।

घर लौटे। भोजनोपरान्त फिर दोतल्ले में लेट गये। चौबेजी ने पूछा——यहाँ कारबार कैसा और किसके हाथ में है?

मैंने कहा——सोने-चाँदी का काम गुजरातियों के हाथ में है, गल्ले और कपड़े का कारबार मारवाड़ियों के हाथ में है और जमींदारी तो बंगालियों के हाथ में है ही।

आपने चटाक से चुटकी ली——तो ये ओड़िया फिर क्या करते हैं?

इसी समय एक मच्छरने चौबेजी के गाल पर चिउँटी काटी। चौबेजी ने कहा——पाठक जी, यहाँ के मच्छर जब इतने रसिक वात्सायन मुनि के चेले हैं तो आदमियों का क्या कहना है?

मैंने बतलाया——यहाँ के कुएँ का पानी और मच्छर बीमारी के घर हैं। कुएँ का पानी पीने से और मच्छर के काटने से पाँव फूल जाते हैं।

चौबेजी बोले—तो, पाठकजी महाराज! एक बात करौ—"तुम हमका याक ल्वाटा पानी और दुई-चार मच्छर पकड़ द्याव। हम लेई जाब और मथुरा के चौबन को मजा चखाउब। सारेन के बड़े-बड़े पाँव फुलिहैं तौ मजा आ जइहै।"

इसी साल बरसात के दिनों में मैं काठजोरी में स्नान करने का आदी बन गया था। काठजोरी का उन्माद शान्त हो गया था। उस साल कटक-पुरी में हाहाकार मच कर शान्त हो गया था। मैं स्नान करने पानी में घुसा और वय-सुलभ स्वभाव से जरा आगे दर्प के साथ चला। थोड़ा तैरना भी जानता था। लेकिन लौटते वक्त दम फूल आया। मुई धारा, मुझे ले चली। बड़ी कोशिश की, लेकिन एक न चली। सोचा—बस, आज यह लीला समाप्त। और अब अनुमानतः १० गज का फासला है, बुर्ज के पानी के घुमाव का। जहाँ जाने पर लोग इहलोक में नहीं रहते, पारलौकिक बन जाते हैं। अभी-अभी हाल में एक घटना घटी थी, जो ताजी थी। लेकिन "जाको राखे साइँया मार न सकिहैं कोय" मेरा हाथ एक सीढ़ी पर जा लगा और जोर मारा तो दूसरा हाथ भी उसी पर जा रमा। मैं बच गया। सीढ़ी पर २० मिनट तक लेटा रहा। फिर रामजी को धन्यवाद देता घर वापस आया। उस दिन से मैं काटजोरी दादी को नमस्कार कर लिया। बरसात में क्या, गरमी के दिनों में भी काठजोरी में नहाना मैं खतरे से खाली न मानता।

नराज दर्शन

कटक शहर का प्राकृतिक सौंदर्य बड़ा ही मनमुग्धकर है। उत्तर में महानदी और दक्षिण में काठजोरी, जो महानदी की शाखा है। महानदी की यह शाखा काठजोरी वर्तमान कटक शहर से पश्चिम ५ मील की दूरी पर से नराज नामक स्थान से अलग होती है। इस नराज की अनुपम सुन्दर पौराणिक गाथा है। कहते हैं, अज्ञातवास के समय पञ्च-पांडव माता कुन्ती के साथ महानदी के किनारे एक उच्च स्थान पहाड़ी के ऊपर अपना निवास बनाने के उद्देश्य से ऊपर गये। अर्जुन अपना गाण्डीव नाराच को एक शिला पर ओढ़का कर एक दूसरी शिला पर बैठ गये। सभी साथी बैठे। वहाँ की दक्षिणी वायु की शीतलता नस-नस में एक आनन्ददायिनी स्फूर्ति भर रही थी। सबका मन रम गया। पवन, पानी और भूमि के आनन्द का उपभोग सभी ने किया। कुछ समय के पश्चात कुन्ती ने युधिष्ठिर से निर्विकार भाव से कहा--बेटा युधिष्ठिर, मेरी शादी करने की इच्छा होती है।

युधिष्ठिर ज्ञानी थे। सोचा, क्या बात है? यहाँ बैठते ही यह प्रश्न कैसे? जरूर मिट्टी का गुण है। उन्होंने जल्दी चलकर महानदी पार किया और उत्तर की ओर बढ़ गये। अब कुन्ती शान्त थीं।

सच हो चाहे झूठ, लेकिन यह कहावत आज तक बड़े प्रेम

से कही जाती है। यह कहानी स्वर्गीय पं० लिंगराज मिश्रजी ने हमारी सभा की कार्यकारणी समिति के सामने किसी प्रसंगवश कही थी। लोग हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये थे।

यहीं से महानदी की शाखा काठजोरी निकली है। प्रथम तो यह इतनी क्षीण थी कि लोग काठ जोड़ कर पार हो लेते थे। लेकिन अब तो दो-तीन मील नौके पर पार हो लोग उस पार जाते हैं।

यही काठजोरी नदी दादी-सी प्रेम-प्रवाह बहाती रहती है। अगर यह न होती तो कटक शहर मलेरिया और फाइलेरिया का केन्द्र बन जाता।

कटक शहर में आषाढ़ रथ-यात्रा के समय हैजा होना वार्षिक फसल है। एक डाक्टर ने कहा था—अगर रथ-यात्रा के समय यह सब बीमारी न हो तो हमलोग समझते हैं कि हमारी खेती सूख गई है।

वे भयावह दिन और प्याज सेवन

कटक शहर की बात है। एक समय बड़े जोर का हैजा हुआ। लोग बात-बात में लुढ़क जाते। स्कूल-कालेज बन्द हो गये। लोग कटक छोड़कर भागने लगे। शाम के समय लोग खप्पर जलाकर देवी स्तवक गान करते चलते। एकदम डरावना दृश्य था। सारा शहर साँय-साँय करता था। शाम के समय कोई बाहर न निकलता। चारों ओर झरोके से केवल रोने की चीत्कार सुनाई पड़ती। मैं दोतल्ले के ऊपर सोता था। भोजन तो अपने हाथों ही बनाता। पानी काठजोरी से खुद लाता, गरम पानी पीता। बाहर खाना छोड़ दिया।

लोग मृदङ्ग, करताल के साथ गीत गाते और कालीमाई की जय बोलते, नगर की मंगल-कामना करते तथा जगह-जगह पूजा करते थे। प्रत्येक बरामदे पर भागवत का पाठ होता था। सारा नगर ही जन-शून्य-सा हो गया था। स्कूल, कालेज बन्द हो गये थे। कोर्ट-कचहरी बन्द थी। लोग प्राण-रक्षा के लिए कटक त्याग कर भागने लगे थे। वह एक दृश्य था, जिसका अनुभव मैं तथा जिन लोगों ने वह दृश्य देखा था, कर सकते हैं।

मैं भी शाम के समय घर से बाहर नहीं जाता था। द्वार बन्द रहते। रामनाम का गान तथा रामायण का पाठ करता था। अस्तु—

इस समय मुझे जरा भी शारीरिक तकलीफ नहीं मालूम दी थी। मैं सबल, स्वस्थ तथा शांत चित्त था।

मैं घर-घर घूम कर हिन्दी पढ़ाता था, यह मैं पहले कह चुका हूं। किचलू साहेब इम्पीरियल बैंक के मैनेजर थे। उनकी लड़की मेरे पास हिन्दी पढ़ती थी। मैं पढ़ाने जाता। लड़की पढ़ने में तेज थी और थी अति सुन्दरी, सुशीला। एक रोज मैं उसे पढ़ा रहा था। आज, समय रोज की अपेक्षा अधिक लगा। रोज के समान आज भी पूड़ियों का नाश्ता आया। मैंने मना कर दिया। मैं खाऊँगा नहीं, कह कर वापस कर दिया।

किचलू साहेब नौकर के साथ फिर आये। बोले—पाठकजी, डरते हो? यह देखो, घरके चारों ओर मैंने कितने प्याज बाँध रखे हैं। साग तरकारी पोटास के पानी से धोया जाता है।

मैंने कहा—मैं खाना-पीना कमा रहा हूँ।

किचलू साहेब—आप अगर प्याज खायें तो हैजा कभी भी न आये।

मैंने कहा—यही तो मुझमें बीमारी है कि मैं प्याज-लहसुन कुछ नहीं खा सकता। मांस-मछली तो एकदम नहीं चल सकते।

किचलू साहेब—आप अगर कोई धार्मिक परहेज करते हैं तो दूसरी बात है। लेकिन अगर गन्ध से डरते हों, तो उसकी दवा मैं बता दूँ। प्याज अगर खाना शुरू कर देते हैं, तो हैजा

कभी भी नहीं होगा, यह बात ठीक मान लीजिये।

मैंने कहा—लेकिन प्याज मेरे गले पहले उतरे भी!

किचलू साहब—यह काम मेरा है। कल आपका भोजन मेरे घर रहा। १० बजे आइये। आपको असुविधा तो नहीं होगी?

मैं न नहीं कर सका। मेरे पहले पहल उनकी लड़की ने कहा—हाँ, जरूर आयेंगे।

मैं दूसरे दिन समय पर गया। मेज पर ही खाना परोसा गया। किचलू साहेब की पत्नी इस काम में और अधिक तत्पर थीं। पूड़ियाँ बनी थीं। खाना खाया। दो-तीन प्रकार का अचार भी खाया। भोजनोपरान्त मुझसे पूछा गया—प्याज खायेंगे? मैंने कहा—अच्छा।

किचलू साहेब—तो यह प्याज ही तो है। इस पर नीबू का रस डालिये, बस। दूसरी बात है कि अगर आप कच्चा प्याज खायें तो और अधिक उपकार पायेंगे। गन्ध से बचने के लिये हरी मिर्च खा लीजिये। डकार में प्याज की गन्ध कभी नहीं आयेगी।

हैजा से बचने के डरने मुझे प्याज खाना सिखा दिया। मैं प्याज खाने लगा।

नालायकी का प्रदर्शन

मैं अपने को यहाँ रमा चुका था। लेकिन मैंने मछली अभी तक नहीं खाया था। मैं नवबाबू और मालती देवी से इतना हिल-मिल गया था कि अपनी गलती को भूल जाता था। आज मैं समझता हूँ, कि मैं क्रोधी और उद्दण्ड स्वभाव का था। एक रोज की घटना इसका प्रमाण है। श्रीमती मालती देवी के घर सभी का न्योता था। मैं भी उसमें था। मांस बनाथा। लेकिन मेरे लिये अलग भोजन बनाया गया था। परिचितों का ख्याल था कि अगर एक दो-बार मुझे मांस या मछली खिलाया जाय तो फिर आरम्भ हो जायगा, और मैं सब खाने लग जाऊँगा। इसलिये दिल्लगी में सुरेन्द्र बाबू ने मांस में अपना हाथ डुबो कर मेरे ओठों पर लगा दिया। मेरे रोष का ठिकाना न था। मैंने उनका पीछा किया, वे हँसते भागे। हाथ नहीं आये। उस दिन की नाराजगी की घटना आज भी मालती देवी जी कभी-कभी बखान कर जाती हैं।

मैं आज जब सुनता हूँ तो लज्जित होता हूँ। सुरेंद्र बाबू भी इसको मेरी उपस्थिति में लोगों से कहते हैं। इस से उनकी अपनी लायकी और मेरी नालायकी साफ झलकने लगती है। आज मैं उन बातों को सोचता हूँ। शुक्र इतना ही है कि मैं अभी तक आमिषभोजी नहीं बन सका।

मैं इस घर से बहुत हिल गया था। इसका प्रमाण

बूढ़ी माँ के प्रेम की चर्चा मैंने आगे कर दी है। लेकिन सच बात यह है कि मेरे लिये यह घर यदि न होता और फिर नवबाबू, मालती देवी और श्रीमती रमादेवी की छत्रछाया न होती, अनुकम्पा न रहती तो शायद मैं अन्यत्र कहीं होता। यह पाठक संचालक न जाने किस खेत की मूली बनता। तब से लेकर आज तक भी मैं वैसा ही आदर-सम्मान उनसे पा आ रहा हूँ। उन्होंने हिन्दी-पण्डित को भुलाया नहीं है। बल्कि, श्रीमती मालती चौधरी जब-जब कटक आती हैं, खोज करती हैं। ये दोनों १९३३–३४ में मेरे स्टोव और बड़ों के मेहमान बनते रहे हैं। और आने जाने वालों को बनाते रहे हैं। जिनमें श्री मोहनलाल जी गौतम का नाम उल्लेखनीय है। और उसकी चर्चा मैंने पीछे भी की है।

आप लोगों के साथ मैंने कई बार गाँव देखे हैं। सर्व प्रथम नराज के दर्शन तो मैंने आप लोगों के साथ ही किये थे। बाद में तो मैं खुद अकेले १०–१२ बार गया—वहाँ की पहाड़ियों पर बैठा। शिला-विश्राम किया जिस पर कि अर्जुन ने अपना नाराच ओढ़काया था। कितना सुन्दर यहाँ से प्रकृति रानी का मनोरम सौन्दर्य देखने में आता है। वन-जगल देखो, उद्यान देखो, महानदी की उपत्यका में गाँव देखो और देखो बल-खाती महानदी की शान्तधारा, कितना पावन सौन्दर्य है यहाँ का।

प्रेमपूर्ण गालियाँ

एक बार मैं पैदल नराज गया था। साथ में राधेनाथ भान जी भी थे। हम दोनों कुछ खाने का सामान लेकर गये थे। एक पेड़ के नीचे बैठ कर खाये, मालूम नहीं, पर खाने के लिये परोठे थे। हम दोनों ने डटकर खाया, महानदी का पयपान किया। और ऊपर जाकर पेड़ की छाया में एक शिला पर लेट गये। शाम तक लेटे रहे, गप मारते रहे। फिर शामको वापस चले तो एक खेत में एक वृद्धा जोर जोर से चिल्ला रही थी। खड़ी होती, और कमर तक झुकती जाती, चिल्लाती। हमने सोचा, यह पागल है। हम इसी ओर से घर जाते हैं। कहीं पत्थर न फेंक मारे, परन्तु वह एक और फिर हम दो। जैसे-जैसे समीप जाते उसके मंत्रों की भाषा समझ में आने लगी थी। देखा, पास के एक धान के खेत में २ बैल घुसे खा रहे हैं। वे किसी दूसरे के थे। वह औरत उनको हाँकती नहीं है। बल्कि नाराज हो कर—अरे जोगनी खिया (अरे तुमको जोगनी खाये) अरे वाड़ी खिया (अरे तेरी कपाल क्रिया हो) अरे अल्पाइसिया (अरे तेरी उम्र कम हो) आदि न जाने कितने शब्दों के नाम ले रही थी। और भी ऐसे मंत्रों के शब्द हैं जिनको भाषा में अगर कहा जाय तो लोकाचार के विरुद्ध बात होगी और फिर हिन्दी प्रान्तों की बुढ़िया भी क्या गाली का महाभारत याद रखती है।

प्रथम मेरा ख्याल था कि हिन्दी में ही ऐसे शब्दों का भण्डार है। लेकिन, कोई प्रांत किसी से इस मामले में पीछे नहीं होंगे।

गाली के सुन्दर शब्द दुर्बलों के लिये रामबाण से होते हैं। बल्कि, फौजों के सामने बजने वाले जुझाऊ नगाड़े के शब्द वृद्धों के गाली के शब्द-ध्वनि से पीछे पड़ जायेंगे।

थोड़ी देर में एक बालक दौड़ता आया और दोनों बैलों को हांक ले गया। अब हमारे ध्यान में सारी बातें आई। पाठकों के सामने जल्दी और सीधे शब्द रख चुके हैं।

एक बार ठक्कर बापा कटक आये थे। स्वामीजी के पास ठहरे थे। श्री महताब बाबू (आज उड़ीसा के प्रधान मंत्री, डा० हरेकृष्ण महताब) ठक्कर बापा को अपने घर अगरपाड़ा ले गये। मुझे भी जाने के लिये कहा, मैं भी साथ गया। वहाँ मैंने महताब बाबू की शान देखी। स्कूल, हस्पताल आदि जन मंगलकर काम देखा। खद्दर की एक कमीज और धोती चप्पल पहिरने वाले राजा महताब की शान हैरतअंगेज थी। विशाल भवन में लोक समागम, ठक्कर बापा के साथ साथ कई स्थान देखा। शाम के समय सभी लोगों ने अपने अपने कार्य की खुद आलोचना करने की बात तय हुई। महताब बाबू ने अपनी जीवनी कही। मैंने भी अपनी जीवनी कही। जिसको मैं खुद ही नहीं जानता। मुझे आश्चर्य हुआ, कि किस अव्यक्त की प्रेरणाशक्ति ने राजा महताब बाबू को प्रजा बना दिया है— उनकी सादगी अनुपम है, वे अपने लगन से चल रहे थे।

चिलिका-दर्शन

मैंने आगे कहा है कि अब मैं शान्त चित्त था। इसलिये यत्र-तत्र घूमने की इच्छा होती। मैंने कविवर राधानाथ का लिखा चिलिका खण्डकाव्य पढ़ा था। वह मुझे सुन्दर लगा। मेरा मन किया कि मैं भी उस चिलिका झील को देखूँ और 'मराल-मालिनी नीलाम्बु चिलिका' के सौन्दर्यपराग को पान करूँ। फलस्वरूप मैंने वहाँ जाने की इच्छा स्वामीजी से जाहिर की। स्वामीजी की लड़की कालूपड़ा के पास जरीपड़ा में व्याही हुई थी। उन्होंने पत्र लिख दिया। सो मैं और राधेनाथजी भान कालूपाड़े से नौका पर बैठ कर बालूगाँव के लिये चले। रास्ते में दोपहर हो गई। एक गाँव में गये। देहाती गाँव था। जाति के किसान थे। बड़े प्यार से, भात-दाल और मछली बनाया था। खाने बैठे तो मोटी रोटी, मछली के टुकड़े सामने आये। मैंने मना किया। हमारे साथीने डट कर खाया। घर का मालिक बार-बार कहता—यह मछली बढ़िया है। इसकी जाति सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। हम आपकी क्या सेवा करें? आदि आदि

मैंने कहा—आप चिन्ता मत करें। दाल-भात मेरे लिये अमृत के समान है। १२–१ बजे, भूख तो काफी लगी थी। इतनी जल्दी आपने भात-दाल खिलाया। इसके लिये धन्यवाद है।

किसान——परन्तु हमारे लिये तो अफसोस की बात रह गई न। हमारे यहाँ कुणिया (अतिथि) आये और हम भर पेट भोजन भी न खिलायें।

मैंने कहा——हिन्दी में एक कहावत है——'जान न पहचान, मैं तेरा मेहमान'। ऐसी दशा में तो हम आपके पास आये हैं, और आप हैं कि दुखी होते हैं।

मुझे मन ही मन प्रसन्नता हुई कि कितना प्यार है लोगों का आतिथ्य पर! यह भारत की सुन्दर संस्कृति कितनी उदारमना है! कितनी प्यार पगी है! उसके व्यवहार से हम दोनों खुश थे। कुछ पैसे भी देना चाहा, लेकिन कान पकड़, जीभ निकाल कर, राम-राम कह कर पैसा छुआ तक नहीं।

भोजनोपरान्त हमलोग बालूगाँव आये। यहाँ ५ मील दूर चिलिका झील के बीच में 'कालीजाई' नाम की देवी हैं, नाम हमने पहले से भी सुना था। अतएव, नौका से ही देवी दर्शनार्थ चले।

चिलिका का सौन्दर्य वास्तव में देखने लायक है। हमलोगों ने चिलिका चण्डीमाई के पहाड़ से घूम-घूम कर चिलिका के पावन सौन्दर्य का दर्शन किया। चारों ओर हरे-भरे गिरि, पहाड़, बलखाती चिलिका-कटि, शरीर अवयव अनुपम है। सुन्दर उठनेवाली चिलिका झील की लोल लहरियाँ चित्त में सिहरन पैदा करती थी। यहाँ से खड़े होकर चिलिका का सौन्दर्य कवि-दृष्टि के लिये एक महान् प्रेरणा और नयन तथा अन्तरात्मा के लिये बढ़िया सुन्दर खाद्य पैदा करता है।

इस सौन्दर्य दर्शन के बाद मेरी दृष्टि पास दीनहीन खड़े मुर्गे तथा बकरों की ओर गई। मेरे समझ में नहीं आया। लेकिन देवी के दर्शन कर हम जब फिर नाव के पास आये तो मुर्गे और बकरों का समूह पास आ गया। मैंने नौकावाले से इन प्राणियों के यहाँ रहने का कारण पूछा। उसने उत्तर दिया—लोग लाकर देवीजी की मनौती में इनको यहाँ छोड़ जाते हैं। देवीजी धीरे-धीरे खा लेती हैं। जिसको खाया, मान लिया कि उसका भोग देवी ने स्वीकार किया है, भक्त की कामना सफल हुई। वास्तव में बात यों है कि भक्त लोग छोड़ जाते हैं। इस पहाड़ में नमकीन पानी के सिवा और कुछ भी नहीं है, खाड़ियाँ हैं, उसमें पानी साफ है पर खारा है। सब जीवों की संख्या २०–३० होगी। बिना खाने-पीने के जब ये जीव मर जाते हैं तो मान लिया जाता है कि देवी ने हमारा भोग स्वीकार कर लिया।

इन भयानक मूक प्राणियों की मौन भाषा समझने में देर न लगी। वे तो आहि पाने के लिये यहाँ डर-भय छोड़ सामने आ गये हैं। कैसी विषादमयी रेखा खिची है उनके आनन में! मानो चीत्कार कर रोना चाहते हों। मैंने कहा—हे नाविक, इनको बैठा लो। तीरे में कहीं छोड़ देना।

नाविक बोला—अरे राम-राम, ऐसा मत कहो, देवीजी नाराज हो जायेंगी। यह सुन मुर्गे ने बाँग दी, बकरों ने मिमियाया। मानो कह रहे हों कि यह नाविक झूठ कहता है। हम तो अन्धविश्वास के कारण अपने पूर्व जन्म के पाप का परिणाम भोग रहे हैं। अन्य जीव होते तो लोग हम पर

रहम तो खाते।

नाविक नहीं लिया। मैं बड़ी दूर तक उन निरपराधी जीवों का दर्शन करता रहा, सोचता रहा। हायरे धर्म !

अभी नाव चिलिका के बीच में थी कि उत्तर की ओर से तूफान आ गया। नाविक ने पाल उतारना चाहा, लेकिन पाल की रस्सी हाथ से छूट गई। नाव हाथ से बाहर हो गई। नाव कभी इस करवट लुढ़कती तो कभी उस करवट। लहरों का उछाल बार-बार हम पर प्रहार-सा करती, होली-सा खेलती। मंग थाम नाविक चिलिका चण्डी का जाप करने लगा। प्रथम-प्रथम तो हमको हँसी आई, लेकिन नाविक की पुकार "अरे बाबू, चुपचाप बीच में बैठो, नाव डूब जायेगी", भय ने हम पर अपना प्रभाव फैला दिया। नाव वायुवेग की तरह दक्षिण को जा रही थी। मानो यम के पास उसे जल्द पहुँचना हो। एक घण्टे की दौड़ के बाद नाव एक पहाड़ के पीछे आ गई। वायु का वेग अब हम पर कम था। नाव काबू में आ गई। नाविक हँसा। पहाड़ के एक पेड़ पर रस्सी बाँध नीचे उतर गये। चट्टान में बैठ कर तूफान के चले जाने का इन्तजार करने लगे। उसका रास्ता हमें नहीं रोकना चाहिये था। वह नित प्रवृतमान जग के सृजन का कारण स्वरूप एक देव है। जगजीवन है, जगमालिक और जगशासक भी है न।

एक घण्टे विश्राम करने के बाद हम दोनों चिलिका के किनारे और पहाड़ की तराइयों से बालूगाँव की बेलाभूमि में जा पहूँचे। अब हम लोगों ने अपने को निरापद समझा।

नाववाला जो खाली नाव लेकर हमारे साथ नाव खेकर आया था, हमने पैसे देकर बिदा किया। एक रुपये अधिक देने पर उसने नमस्कार किया और कहा—बाबू, आज चिलिका माई ने आपलोगों की बड़ी रक्षा की है। हमने विरोध नहीं किया। कारण, उस समय विरोध करनेवाला ज्ञान नहीं था। अन्ध-विश्वास ही हो, लेकिन 'डूबे को तिनके का सहारा' सा लगा। चिलिका माई की कृपा ही सही, 'जान बची लाखो पाये'। कारण मैं उस समय मरने के लिये तैयार नहीं था और न अभी हूँ। कारण, मेरी योजनाएँ अधूरी हैं। गान्धीजी के कथनानुसार कि भगवान् मेरा यहाँ का काम समाप्त समझेंगे तो बुला लेंगे। यह कथन सांसारिकता के लिये सोलहों आने सच है।

हम दोनों रेल से कटक चले आये। नौका-विहार खत्म कर दिया। जिन साहित्यिक भावनाओं ने मुझे वहाँ जाकर प्रकृति के कौमार्य, यौवन, जरा-सौन्दर्य देखने के लिये मजबूर किया था, मेरी हालत देखकर चुप हैं। उनसे कोई प्रेरणा नहीं मिलती है। कारण यह है कि मेरे दिल से भी अभी तक वह दृश्य नहीं गया है। याद आते ही जल समाधि की बातें मनमें उठती हैं। पर मैं बच गया और राधेनाथजी भी बच गये।

कोणार्क दर्शन

चिलिका-दर्शन के कुछ दिन बाद कोणार्क जाने का विचार स्वामीजी ने रखा। यों तो मैं कोणार्क देख चुका था। सर्वप्रथम मैं, सरोजिनी चौधरी तथा उनके पुत्र, पुत्री और नातियों के साथ पुरी से बैलगाड़ी में कोणार्क गया था। रामचण्डी में डेरा डाला। दिन के समय वहीं भोजन किया। उस दिन की कहानी भी मेरे जीवन के अन्तिम दिनकी कहानी है। सभी के साथ मैं भी सागर स्नान करने गया। दया नदी का मुहाना था। पतली-पतली धाराओं से सागर के गले मिलने वाली कुमारी का रूप-यौवन सम्पन्न सौन्दर्य का दर्शन मैंने किया। साथियों को छोड़ आगे चला आया। रहनुमा उन लोगों के साथ था। जिस पथ में हम गये थे, उससे १० गज मैं पूर्व की ओर होकर चला आया। पानी पेडुरियों से नीचे ही था। कहीं-कहीं पौली भी नहीं डूबती थी। सागर और भूमि की संधि के पास आया ही था कि मेरा एक पैर बालू के अन्दर चला गया। उससे निकालने की कोशिश की पर दूसरा उससे भी नीचे चला गया। जाँघ तक मैं धंस गया। अब निरुपाय था। स्वाँस भर आई। दैव की प्रेरणा से मैं जमीन की ओर सोकर जमीन पकड़ने के लिये हाथ बढ़ाया। सौभाग्य से एक झाड़ी की पतली डाल मेरे हाथ लगी। उसने मेरी बड़ी मदद की। मानो मेरी जीवन-संगिनी हो। झाड़ीरूप हो मेरी मदद करने आई है, बचाने आई

है। मैं झाड़ी की डाली को हाथ से पकड़ा और ऊपर आया, साथियों से इसकी चर्चा मैंने की। रामचण्डी के पुजारी ने कहा—यहाँ चोरा बालू है। एक आदमी गत साल बालू में डूब गया है। यह बालू जल्दी-जल्दी आदमी को दबा लेती है। इससे बचने का एक ही उपाय है लम्बा सो जाना।

मुझे यह मालूम नहीं था। पर मुझे अन्तरात्मा की प्रेरणा मिली, झाड़ी की डाली मिली। मैं सो गया, हाथ बढ़ाया सो मुझे कुछ मिला।

कोणार्क गया। मन्दिर देखा। मन्दिर में जड़ी कमनीय कला कलेवर रूपमयी पत्थर-प्रतिमाओं को देखा। कितना स्वच्छ सौन्दर्य था उनमें। दूसरे दिन शाम को वहीं रहे। सबेरे सूर्योदय देखना था। इसलिये भोर-भोर उठकर सागर के किनारे गये और सूर्योदय का इंतजार करने लगे।

सुदूर सागर के किनारे एक पतली रेखा सबों ने देखी। उस काल की नीरवता कितनी सुन्दर, स्निग्ध और शांत थी; कल्पनातीत है। रेखा धीरे-धीरे बढ़ने लगी और बढ़ते बढ़ते अर्द्ध चन्द्राकार हो गई। फिर गोल सुवर्ण कलस के समान लाल गोलाकार बन गया और फिर जोर-जोर से घूमा, मानो एक बड़ा लट्टू हो। वह हठात् १० फुट ऊँचे उठ गया, मानो लट्टू को कोई खिलाड़ी उठा लिया हो। सूर्योदय हो गया। संसार की हाट फिर चालू हो गई। हम चले आये।

दूसरी यात्रा काका कालेलकर जी के साथ हुई थी। इस समय मन्दिर के दर्शन बौद्धिक ढंग के थे। कला की परीक्षा

और शोध तथा उसके उत्थान और पतन पर सीमित समालोचना काका साहेबजी के मुख से सुनी।

यह तीसरी बार की यात्रा स्वामीजी के साथ थी। इस समय साथ थे श्री सत्येन्द्र राय महाशय।

उसी रात को राय महाशय खो गये। स्वामीजी व्यस्त और चिन्तित से लगे। हमलोग खोजने चले। विराट बालुका-स्तूप और नीरव अन्धेरी रात। उस रात के भयावने रूप को देखकर सिहरते हुए शरीर अवयव के स्वेद को सागर की शीतल समीर भी सुखा नहीं सकी। कभी मैं और कभी मुरलीबाबू 'सत्येन राय महाशय, सत्येन्द्र बाबू' की पुकार मचाते थे। कोणार्क मन्दिर और सागर के बीच का विस्तृत बालू के मैदान में हम लोगों की बुलन्द आवाज आकाश में प्रतिध्वनित हो पुनः खबर देती थी---राय महाशय नहीं बोल रहे हैं। हमलोगों की यह पक्की धारणा हो गई थी कि सत्येन्द्र बाबू को बाघ ने खा लिया है। ग्यारह-बारह बजे रात का समय था। हाथ में लालटेन के साथ एक आदमी और हम दो थे। जहाँ कहीं जरा सा आहट मिलता तो भान होता कि बाघ आ रहा है। रोंगटे खड़े हो जाते, चौकन्ने हो जाते। मन में शंका होती कि खाली लौटेंगे तो स्वामीजी को क्या कहेंगे ? सौभाग्य से एक गाँव के आदमी के साथ वे वापस आ गये। हमलोगों में आनन्द की लहरें खेलने लगीं।

स्वामीजी ने उनसे पूछा---कहाँ गये थे ?

राय महाशय ने कहा---पाठक जी और मुरली बाबू

(मुरलीधर आचार्य) से मैं पीछे रह गया। मेरे सामने बैलगाड़ी की लीक नजर आई। उसके ऊपर चलते मैं एक गाँव में पहुँच गया। मैं दिशा ही भूल गया। इस बेचारे को ५ रुपये देने के लिये कह कर लाया हूँ।

स्वामीजी ने बड़े प्यार से उसे पाँच रुपये दिये।

स्वामीजी के मुख की कांति उस समय विचित्र थी। एक ओर तो राय महाशय के बिछुड़ने की पिछली भययुक्त व्यथा और अब मिलने की आनन्द उछाल नयन-बालों के सामने नाच रही थी।

ये दोनों—स्वामीजी और राय महाशय वकील हैं। दोनों अलग-अलग मुकदमें लेते हैं। एक दूसरे के विरोधी मुवक्किल होते हैं, लेकिन कोर्ट के बाहर होते ही दोनों अभिन्न अंग, गाढ़े मित्र हैं—देखे जाते हैं। इसी को कहते हैं—दिलवाले।

इस बार मूर्तियाँ नंगी काम-कला-प्रवीणा दिखी। दो बार के दर्शन में मुझे उनको देखने का ख्याल नहीं था। इस बार की निर्देश वाह्य सौन्दर्य पर भी नजर दिया और ऐन्द्रीय जन सुख-शान्ति क्षणिक लालसा पर भी नजर दिया। कोणार्क मन्दिर के समीप एक और मन्दिर है। वहाँ एक वृद्ध ब्राह्मण बैठा था। लोगों ने कहा—इनकी उम्र ९० साल की है। हमने उनसे पूछा—मन्दिर में जो नंगी मूर्तियाँ हैं, उनके लगाने का क्या कारण है?

ब्राह्मण देवता ने कहा—इसमें चारों युगों का निर्देश है।

ऊपर सतयुग है, जिसमें केवल तपस्या का जिक्र है, मध्य में त्रेतायुग का, जिसमें ध्यान-साधना; मध्य उत्तरार्द्ध में द्वापर युग, जिसमें यज्ञ, युद्ध और नीचे कलियुग है, जहाँ भजन कीर्त्तन है और विलासमय जीवन के साथ उलग्न प्रतिमाएँ हैं।

उत्कल खुशहाल देश है और कला-साहित्य उसका एक मात्र जीवन था। भोजनोपरान्त लोग यही चिन्ता करते। पत्थर को खोदते अपना साहित्यिक चिंतनशील भाव इन्हींसे प्रगट करते। इनकी दृष्टि इतनी सूक्ष्म थी कि नर-नारी के पारखी यह कभी भी नहीं कह सकते हैं कि नर-नारियों के शरीराव-यव में अमुक चीज थी, कलाकार ने उसे भुला दिया है या छोड़ दिया है। इससे उनकी दृष्टि की सूक्ष्मता प्रकट होती है। उनके विचार वह नहीं थे जो आज हैं। राजा नरसिंह देव भी इस कला को समझते थे, वे इस प्रकार के कला को सम्मान देते थे। उस समय ऐसी कोई पुस्तक तो थी नहीं, कि कोई पढ़ ले। आदि

इसके बाद श्री लक्ष्मी नारायणजी साहु ने इस प्रकार की कला के संबंध में तथा कोणार्क के प्रतिमाओं के संबंध में एक लेख लिखा। जिसका मर्म यों है :—

एक सुन्दरी युवती थी। उसका विवाह हो गया था, लेकिन पति के पास वह अधिक समय नहीं रहती थी, मायके भाग आती। वह बार-बार लिवाने आता, पर वह न मानती, भाग ही आती। एक दिन उस आदमी ने राजा के पास शिकायत की कि "हुजूर, मेरी पत्नी घर पर नहीं रहती, माता-पिता के यहाँ भाग जाती है।" राजा ने उस सुन्दरी को बुलाया।

वास्तव में वह थी अपूर्व सुन्दरी। राजा ने देखा और पूछा—क्यों सुन्दरी, तुम अपने पति के पास क्यों नहीं रहतीं ?

उसने कहा—यह मर्द मुझे खुश नहीं कर सकता। मेरी इच्छा पूरी करना इसके सामर्थ्य के बाहर की बात है। अतएव मैं चली आती हूँ।

राजा—अच्छा, तो तुम हमारे राजप्रासाद में कुछ दिन रहो। शायद तुम्हारी इच्छा पूरी हो सके। वह सुन्दरी रहने लगी। अभी छः मास भी न बीते होंगे कि वहाँ से भी वह भाग आई।

एक रोज की बात। उसके साथ एक ब्राह्मण देवता से भेंट हो गई जो साठ साल का पट्ठा था, पूछा—अरी सुन्दरी, त राजप्रासाद में थी। बात क्या है, भाग क्यों आई ?

सुन्दरी—मुझे राजा भी खुश नहीं कर सके।

ब्राह्मण—अरे पगली, राजप्रासाद का वैभव पाकर भी तू खुश नहीं हो पाई तो तेरे भाग्य खोटे हैं।

सुन्दरी—ब्राह्मण महाराज, तुमने शास्त्र पढ़ा है पर गुणा नहीं। नारी केवल राज-वैभव से ही खुश नहीं होती। उसकी आकांक्षाएँ कुछ और भी होती हैं, समझे ?

ब्राह्मण—मैंने समझने में तो पहले ही गलती नहीं की थी, जब तुम पति को छोड़कर भाग आई थी। मैं तो मुख से भी सुनना चाहता था। मेरा एक प्रस्ताव है—मैं हूँ तो बेहद गरीब ब्राह्मण, फिर भी तू मेरे पास रह, मैं भी देखूँ, तू खुश हो भी सकेगी।

तब से वह ब्राह्मण के पास रहने लगी। ब्राह्मण देवता ने जो-जो उपाय उस सुन्दरी को खुश करने के लिये किये थे और वह खुश ही नहीं मुग्ध भी हुई थी, वे ही सब कोणार्क मन्दिर के भीत पर अंकित हैं।

कोणार्क तथा अन्य मन्दिरों की नंगी मूर्तियों के संबंध में पं० नीलकण्ठ दास का और भी एक तर्क है। उनका कथन है—यहाँ जैनियों की प्रधानता थी। ये मन्दिर भी जैनियों के प्रभाव में आकर निर्मित हुए हैं। उनका कथन है कि इसका आदर्श हिन्दुओं के ले लेने का एकमात्र कारण यह है कि दिगम्बर-जैन प्रतिमाएं जैसी नंगी रहती हैं, वैसे अगर मन्दिरों में नंगी कामकलायुक्त मूर्तियाँ रहेंगी तो लोग मन्दिरों में उनको देखने जायेंगे और संसारी वहाँ जाने पर जब भगवान के दर्शन करेंगे तो उनका मन विकार-रहित हो जायेगा। वे भगवत चिन्तन में रत हो जायेंगे। इस प्रकार उनका कल्याण होगा। लेकिन यह विचार उनका है, सर्वजन-प्रिय नहीं है और न सर्वजन प्रसंशित ही है।

यह लोकापवाद भी प्रचलित है कि मन्दिरों में नंगी मूर्तियाँ रहने से उन पर वज्रपात नहीं होता।

मुझे लगता है इस चिन्तन में कोई आन्तरिक छिपा उद्देश्य नहीं है, प्रश्न उटता है कैसे ?

मेरा उत्तर है—जब मैं बालक था तो लड़कों के साथ मिलकर मिट्टी के खिलौने बनाता था। बढ़िया चिकनी मिट्टी खोजकर लाते, गाय बनाते, बैल बनाते उनके सींग, कान, नाक,

पैर बनाते, बाद में सोचते, अरे यह तो हुआ ही नहीं, यह काम वे किससे करेंगे ? और उसे भी बना देते। बात यों है कि सारे के सारे शरीर अवयव बनते, कर्मेन्द्रियाँ बनती और ज्ञानेंद्रियाँ भी।

हमारे और इस खेल में अन्तर केवल इतना ही है कि हम बालक थे, मिट्टी के खिलौने बनाते थे और ये युवा, प्रौढ़ और वृद्ध हैं, पत्थर के खिलौने बनाते हैं। उनकी साधना है, चिरस्थायी वस्तु। उसने कला का रूप बना लिया। अपने-अपने वय चिन्तन के अनुसार संसार का बढ़िया खेल भी बन गया। जिसे आज सारा संसार देखता है और उत्कल के कलाविद उसे दिखाये हैं। हम अगर इसी को हँसी में लें तो हँस सकते हैं। लेकिन बौद्धिक चिन्तक इसे अनुपम-अनूठी कला कहते हैं। और कला है इसमें शक भी क्या है ? कला का तो शाब्दिक अर्थ है हू-ब-हू नकल करना, कापी करना, बना लेना, दिखा देना।

और एक बार की घटना है—एक महाशय जो अभी-अभी विलायत से लौटे थे, हमारे साथ कोणार्क यात्रा में साथ आने-जाने में सात दिन थे। इन सात दिनों में अंग्रेजी को छोड़ दूसरी भाषा में नहीं बोले। हालाँकि वक्ता ओड़िया-भाषी थे और श्रोता भी ओड़िया-भाषी थे। मुझे रंज हुआ, मैंने कहा—स्वामीजी, सात दिन से आप अंग्रेजी में बोलते हैं; हालाँकि दोनों ओड़िया जानते हैं। यह एक संक्रामक बीमारी है। उस समय से उनके साथ स्वामीजी ओड़िया में बोलने लगे। लेकिन वही

घटना मेरे दुख के कारण का श्रीगणेश बनी।

१९५९ फरवरी में फिर माघ सप्तमी के दिन कोणार्क जाने का विचार हुआ। इस बार अन्य साथियों के साथ थीं बिटिया इन्दू और पत्नी विनीता। आगे पाठकों ने पढ़ा होगा कि झाड़ीने संगिनी का कार्य किया था, जो केवल कवि की कल्पना मात्र थी। परन्तु आज सच संगिनी साथ है।

रात को १ बजे मोटर में चले। सबेरे ४ बजे कोणार्क जा पहुँचे। और चले सीधे सागर का संगीत सुनने। इस बार की सागर में सूर्य का दर्शन नहीं हो पाया। कारण, बादलों ने सूर्य को छिपा रखा था।

निराश हो लौट आये। लाखों आदमी निराश हो लौटे थे। आनन्द में निरसता आ गई थी।

इस बार मैंने देखा कि मेलों के समय खासकर कोणार्क का मेला कितना, नरों द्वारा मैला किया जाता है।

हम लोग पैर बचाते चले आये। कोणार्क के पास डाक-बंगले के अहाते में मोटर रख दिया। कुछ नाश्ता-पानी किया और चले कोणार्क मन्दिर देखने।

मन्दिर का दर्शन वास्तव में इसी बार ठीक था, जिस प्रकार सिनेमा देखने में बुद्धि मधुर-भावों के साथ होती है, कोणार्क दर्शन में भी वही है। कला देखो, चाहे सौन्दर्य देखो, चाहे चारों युगों का कर्मक्षेत्र। सभी साकार रूप में वहाँ मौजूद है।

श्रीमती विनीता पाठक ने मत व्यक्त किया कि कोणार्क

मन्दिर अगर देखना हो तो मेले के समय कभी न आये। वास्तव में बात सोलहों आने ठीक है, और फिर आने की कल्पना करके मन्दिर देखा, घूमघूम कर देखा। मुझे इस बार मन्दिर दर्शन में नवीनता का भान हो रहा था। खासकर बिटिया इन्दू के लिये हम लोग चिंतित होते थे, जब कि वह मेले में दूर चली जाती।

दोपहर को ही हम कटक के लिये चल पड़े। भुवनेश्वर में आये, देखा इतिहास प्रसिद्ध अनन्त वासुदेव मन्दिर में अभी प्रसाद मिल रहा है। लिया खाया और कटक वापस आये।

ओड़िशामें जितने पर्व-त्योहार हैं, उनमें कोणार्क का माघ-सप्तमी का मेला भी एक है। यह तिथि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठिति है। ओड़िया-इतिहास में जब मन्दिरों के निर्माण की चर्चा होती है, उसमें यह भी एक अध्याय अवश्य ही रहता है। अन्यथा यह इतिहास लेखन कार्य अधूरा ही रहेगा।

मैं अब कोणार्क के दर्शन से उसका दार्शनिक तत्व कुछ-कुछ समझ रहा हूँ। अन्य मतों के साथ मैं एक अनुभवाभिव्यक्ति से मालूम करता हूँ कि वह एक जमाना था जब साहित्य के अध्ययन के लिये आज जैसा काव्यमय इतिवृत्तात्मक साहित्य का संघात मानवों को उपलब्ध नहीं था। वे कथकों के कहने से, भाटों के काव्य गायन से, संगीतज्ञों के संगीत स्वर लहरी से, शिल्पियों की मूर्ति दर्शन से आनन्द उपभोग करते। साहित्य रस मंजरी का रसास्वादन करते, चिन्तन करते थे।

उत्कल के इतिहास में लंगुड़ा नरसिंह देव बड़े प्रभाव-

शाली राजा हो गये हैं। वे शास्त्र-मर्मज्ञ थे। उनके दरबार में कवि, ज्ञानी, साधु-सन्यासी आदि का आदर था। यह मन्दिर भी उन्हीं के ज्ञान, इच्छा, कल्पना और प्रेममय दिल के एक प्रकार का नमूना है। यह कोणार्क, जिसमें मानव चरित्र के सारे अंगों का समावेश है, मानवकी दिनचर्या, कार्य-कलाप अभिनवानुभूति की अभिव्यंजना जो व्यंजित की गई थी, आज भी वह हू-ब-हू मूर्तिमन्त है। गत १२ शताब्दियों से यह मूर्तियाँ हँसती चली आ रही हैं। नाचती हैं, क्रीड़ा करती हैं। गायन, वादन तथा उपासना-युक्त भावापन्न जो चिन्तन कला का सजीव स्वरूप बन गया है। जिसको पं० जवाहरलाल के कारण आज सारा विश्व दर्शन करने के लिये उतावला है। कैसा अनूठा, सुन्दर साहित्यमय, काव्यमय और रसानुभूतिमय भाव व्यक्त है, इन पत्थर की प्रतिमाओं में। मुझे अब लगता है, कि कुछ भी अश्लील नहीं है। वास्तव में मानव का सच्चा स्वरूप कोणार्क मन्दिर में प्रदर्शित है।

मुझे लगता है कि कलाकार के आन्तरिक भाव जब किसी विषय के प्रति काव्यमय हो कर उमड़ने लगते हैं तो बाहर आने की कोशिश करते हैं। अन्दर-अन्दर छटपटाते हैं तो वे किसी के हाथों से, कलम के द्वारा मूर्तिवत् होते हैं। वह फिर चाहे कागज पर उतरे, चाहे तो पत्थर पर, और चाहे तो मिट्टी से, गढ़कर पूर्ण स्वरूप सब के सामने ला रखते हैं। इन मन्दिरों के गढ़ने की अभिलाषा और उनके अन्दर किसी विशिष्ठानु-रागात्मक आन्तरिक श्रद्धा-भक्ति और एकान्त प्रेम का भाव

निहित है। दुनिया जिस प्रकार खेल-अखाड़ा है। यह अखाड़ा, और भी उन्नत तथा तमाम अन्तःकरणोंके समन्वित अनुराग यहाँ देखा जाता है।

प्रकृतिवश, विश्वासवश, अगर किसी दिन कोई विशेष कार्य सम्पन्न हो जाता है, तो उसकी याद में लोग जमा होते हैं—याद करते। सोचने की बात है कि अगर कृष्ण तनय अपनी व्याधि से मुक्ति नहीं पाते, तो कोणार्क की याद शायद सर्वसाधारण को नहीं होती, वह तो केवल कुछ साहित्यानुरागियों की क्रीड़ास्थली बनी रहती। ठीक माघ सप्तमी के दिन सूर्य-नारायण के दर्शन करने के लिये लोग लाखों की संख्या में नहीं जाते।

यह है भक्ति-भावना का प्रभाव, अन्धविश्वास का प्रभाव। पूर्व कल्पना किस प्रेरणा का फल है, कौन-सा ऐसा अमोघ अस्त्र सामने नया आता है कि लोग सीधे स्वर्ग में सौध बनाने में समर्थ हो जाते हैं? ऐसा आनन्द पाते हैं कि एक पुनीत दिन लाखों जन के समागम का कारण बन जाता है। यह पूर्व आनन्दमय प्रचलित भावना है, जो आज तीर्थ बना है, स्वर्ग जाने का मार्ग बना है।

श्री नित्यानन्द बाबू और मैं

गोपबाबू जब बरी में रहने लगे तो मैं अक्सर वहाँ जाता। साइकिल से अनेक बार गया था। पथ में गाँव देखे। एक बार की घटना बड़ी ही दर्दनाक तथा मुसीबत की थी। उसमें थे, श्रीयुत नित्यानन्द कानूनगो (आजके केन्द्रीय शिल्प मंत्री) तथा मैं। आपने प्रस्ताव किया--चलो बरी चलें और साइकिल पर चलेंगे। मैं राजी हो गया। गरमी के दिन थे। उनके साथ दोपहर की गाड़ी से धानमंडल तक रेलगाड़ी में चले और बाद में वहाँ से साइकिल पर चले।

धर्मशाला के पास ब्राह्मणी नदी को पार करना पड़ता है। उस समय १–२ का समय हो गया था। मैं था और नित्यानन्द बाबू। नदी में केवल बालू थी। गरमी के दिन, तपी बालू। लगे साइकिल ठेलने। डेढ़ मील साइकिल ठेलना है। बीच नदी में जाते दम फूलने लगा। फिर जोर मारा। ऐसा लगने लगा कि बस, अब गिरे – अब गिरे। राम-राम जपते, प्राण बचाते किसी तरह पानी की धार में पहुँचे। साइकिल पानी में ही फेंक दोनों एक घण्टे तक पानी में पड़े रहे। अगर १०–१५ मिनट तक पानी में न जा पाते तो यह लीला शायद वहीं समाप्त थी।

शाम को बरी पहुँचे। हमलोगों का हाल गोपबाबू ने सुना। झट शहद का शरबत पीने को मिला। उससे एक

नया जीवन आया-सा लगा। हम तब से फिर बरी उस पथ से नहीं ही गये।

बरी आश्रम भारत के प्राचीन ऋषि-मुनियों की याद दिलाता था। कितना शुद्ध पूत, सुन्दर जीवन और कार्यक्रम था आश्रमवासियों का। सुन्दर सफेद खादी के लिबास में लोग जिधर चले जाते एक नया भाव, नया उत्साह और नया भव्य जीवन ग्राम-ग्राम में फैल जाता। बाढ़ से दलित लोगों के बीच गोपबाबू के पहुँच जाने से लोगों में नया उत्साह फैल गया था।

नित्यानन्द बाबू और मैं अब लौटे तो जाजपुर होकर, रेल के जरिये। साइकिल भी रेल में आई।

नित्यानन्द बाबू के घर में कई बार गया। उनकी माता मातृ-स्नेहमय भोजन खिलातीं—भात, दाल और तरकारी। मेरा ख्याल है ऐसी दाल मैं शायद जगन्नाथ पुरी में ही खाया था। कितना स्नेह से माँ खिलातीं! नित्यानन्द बाबू हमारे साथ नहीं बैठते। इस रसोई में मैं और माँ होतीं। नित्यानन्द बाबू मत्स्य-अवतार के उपासक थे, जिसका मैं भक्त नहीं था। इसी कारण से मुझे शुद्ध, सुन्दर एवं देवदुर्लभ भोजन मिला करता था।

वर्धा राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की स्थापना

इस समय वर्धा राष्ट्रभाषा प्रचार समिति का काम काका कालेलकर जी के हाथों में आ गया था। आपके परामर्श से सभा का नाम अब हिन्दी बदल कर राष्ट्रभाषा कर दिया गया। काका साहेब ने उत्कल में कई जगह भ्रमण किया। प्राय: उस समय के सभी जिलों में वे गये। राष्ट्रभाषा को बल दिया। उनके साथ का कोणार्क, धौलीगिरि, उदयगिरि, खण्ड-गिरि तथा जौगढ़ का भ्रमण मस्तिष्क को बौद्धिक खुराक जुटानेवाला सामने आया। २–३ वार्षिक उत्सवों के सभापति तो वे खुद रहे थे।

वर्धा प्रचार समिति की स्थापना सन् १९३७ ई० में हुई। इसके पहले हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की परीक्षाएँ हम लिया करते थे। लेकिन वर्धा समिति की स्थापना से हम वर्धा की ओर झुके। झुकने का कारण था, महात्मा गान्धी का प्रभाव। कारण 'राष्ट्रभाषा' नाम उनकी देन है।

बेजिलगेट की मृत्यु और उत्कल के भाग्यविधाता

कांग्रेस और सभा कार्यालय श्री महताब जी की कृपा से एक ही स्थान पर था। मत था कि सभी साधारण काम करने वाली संस्थाएँ एक ही जगह रहें तो परस्पर काममें सहायक रहेंगी। इसलिये उनके पास ही हम थे। वे जानकीनाथ स्वराज-भवन में रहते। हम लोग रोज मिलते, गपशप किया करते, हँसी-मजाक होता।

महंताबजी का एक युवक मंत्री था। जिसका नाम था मायाधर महान्ति। वह वहाँ रात को १२–१ बजे घूमघाम कर आता। एक दिन मैंने यों ही कह दिया कि आप दुनियाँ की चिन्ता करते हैं, पर अपने सेक्रेटरी की चिन्ता नहीं करते। वह रात-रात टटोलता भागता है। यह टटोलना उनके दिल को ऐसा गुदगुदाया कि मारे हँसी के लोटपोट हो गये और जब कभी बातों के सिलसिले में आज भी ये बातें याद करते हैं तो जोर से हँस लेते हैं। श्री महताबजी हँसमुख तथा साहित्यिक व्यक्ति हैं। उनका धैर्य और साहस भी असीम है। यहाँ मैं उनके संबंध की एक घटना उल्लेख किये बिना नहीं रह सकता।

ओड़िशा के देशी राज्यों का काम गान्धीजी ने आपको सौंप दिया था। आपने राजों को उठा देनेवाले आन्दोलन का शुरूआत किया। दुर्भाग्य या सौभाग्य कहो, रणपुर में उस समय

का ओड़िशा राज्य के पोलिटिकल एजेण्ट बेजिलगेट मारा गया। जनता ने उसे मारा था। यह खबर महताबजी को दिन के १२ बजे लगी। गान्धीवादियों ने कहा—यह तो सरासर हिंसा हो गई है।

महताबजी सोचने लगे—हिंसा तो हुई, लेकिन अब जो लाखों निर्दोष व्यक्ति मारे जायेंगे। अभी भी लाखों व्यक्ति वहाँ जमा होंगे। फौज पहुँचेगी तो सीधे गोली चलायेगी, बिना कुछ कहे-सुने। यह सोचते ही महताबजी ने अपनी बरामदे की चहल-कदमी बन्द कर दी और सेक्रेटरी से कहा—अमुक मोटरवाले को बुलाओ तो, मेरे साथ रणपुर जायगा। अगर उसकी हिम्मत है तो लाओ। मैं जाऊँगा और उसे मुंहमाँगा इनाम दूँगा।

पास बैठे हुए नेता ने कहा—लेकिन यह काम तुम्हारा दुःसाहस का है। तुम फँस सकते हो।

महताब जी—लेकिन मैं लाखों को मरने से तो बचा लूँगा।

मोटर आई, महताबजी चल दिये। मोटरवाले से बोले—जितनी जल्दी चला सकते हो, चलाओ। रणपुर जाना है, यहाँ से ६०–६५ मील है। मोटर चल दी। यह संबाद कटक में जंगल की आग की तरह फैल गया। मैं भी उस समय इसी चर्चा का श्रोता था। सहमा और तटस्थ रहा। उनकी इन्तजारी में सभी ज्यों के त्यों बैठे थे। यह महताब जी के जीवन-मरण का प्रश्न था। उन्होंने ज्वाला के मुख में कूदा है, लाखों को

उद्धार करने के लिये।

रात १२ बजे महताब बाबू आये। उनका मुख लाल था। आँखें ज्वाला-सी चमक रहीं थी।

आराम कुर्सी पर आ बैठे। एक आदमी पंखा झलने लगा। १५ मिनट तक किसी ने कुछ पूछा ही नहीं। फिर अपनें आप बोले—अगर मैं नहीं जाता तो आज लाखों मारे जाते। लोगों ने साहेब को मार-मार कर स्कूल बरामदे के नीचे जमीन पर गेर रखा था और ऐसा बुरी तरह से मारा है कि जैसे साँप के फन को लोग पीटते हैं कि फिर जी न जाय। लाखों लोग देखने के लिये जमा थे। और भीड़ कम होने के बजाय जम रही थी। औरतें बच्चों को गोदी में दबाये चली आ रही थीं। बालक-बालिकाएँ खेलते-कूदते हंसते चले आ रहे थे। युवतियाँ अपना आँचल सम्भाले, लम्बे पैर बढ़ा रहीं थी। वृद्ध अपनी लाठी टेकते, खांसते चले आ रहे थे। मानो कोई आनन्द-वर्द्धक ग्रामीण मेला हो। भविष्य के परिणाम का पता उनको नहीं था। मैंने दबी जबान में कहा—भागो, भागो, फौजें आ रही हैं। गोली से उड़ा दिये जाओगे। इतना कहना था कि लोगों में भगदड़ मच गई और मैं खड़ा तमाशा देखता रहा। जब सब चले गये तो मैं भी चला आया। मैं वहाँ आध घण्टे तक रहा, फिर वापस आया। खुरदा थाने में मुझे पता लगा कि नयागढ़ होते उधर फौज पहुँच गई है।

मैं चला आया। मोटर वाले ने भी वीरता का काम किया है। मैंने उसे ६० रुपये दिये हैं। वहाँ के हाल की कल्पना

नहीं की जा सकती। लोग क्या से क्या बन गये थे। साहेब की मृत्यु को वे इतना कौतुकपूर्ण दृष्टि से देख रहे थे। अगर मैं वहाँ रहता तो गोली का निशाना प्रथम बनता।

उस रात मुझे नींद नहीं आई। मेरे सामने वही महताब बाबू के मुखवाला दृश्य नाच रहा था—"अगर मैं वहाँ रहता तो गोली का निशाना प्रथम मैं ही बनता।"

ढेंकानाल से आई हुई लाशों को रेल से कटक लाये, मैंने देखा। फौजों ने गोली से उड़ा दिया था। उनमें एक १२ साल का लड़का बाजी राउत नाम का था, जो फौजों को आते देख किनारे से नाव खोल बीच धार में ले गया था। गोली लगी और वह नाव में ही कलेजा थाम सो गया। नाव दूसरे किनारे जा लगी। इस काण्ड के पाप का भागीदार यह बेजिलगेट ही था—ऐसी कहानी कही जा रही थी। हमदर्दी पूर्ण प्राण से प्रेम तो महताब बाबू को मिल रहा था, जनता के दिलों में आसीन होने का प्रधान काम था। वे ओड़िशा की जनता के नेता बन गये।

आज भी कभी-कभी लोग कहते हैं—अगर बेजिलगेट के मुकदमे में पड़ जाते तो? लेकिन पड़ते कैसे? पड़ने का गड़हा उन्होंने अपने लिये थोड़े ही खोदा था? उनको तो ओड़िशा का भाग्य-विधाता बनना था।

"यह मेरी हार है !"—गांधीजी

श्री सुबाषचन्द्र वोष ने कांग्रेस को 'जानकीनाथ भवन' दान कर दिया था। उसका नाम रखा गया 'जानकी स्वराज भवन'। इसी समय मेरे पास एक बालक हिन्दी पढ़ने आया। नाम है प्राणकृष्ण मिश्र, (आजकल वे नयागढ़ हाई-स्कूल के हिन्दी शिक्षक हैं)। मैंने कहा—ठीक है, मुझे बनाकर खिलाओ और तुम भी खाओ और आनन्द से पढ़ो। इससे मुझे बड़ी सहायता मिलती। साइकिल चलाने की बीमारी थी। मौका पाते ही साइकिल में कटक का चक्कर मार आता।

कांग्रेस कार्यालय जब जानकीनाथ स्वराज-भवन में जाने लगा तो श्रीयुत हरेकृष्णजी महताब ने कहा कि हिन्दी कार्यालय भी वहीं ले चलो। काँग्रेस के साथ ही यह हिन्दी अनुष्ठान भी रहे। अलग क्यों रहे ?

मैं उनका आदेश मान स्वराज-भवन में आफिस ले गया। मुझे चार कमरे मिल गये थे। बड़ा उत्तम घर था। मैं वहीं रहता और महताब बाबू भी वहीं रहते थे। रोज सबेरे-शाम गप्पें होतीं।

राजनीति बड़ी ओछी वस्तु होती है। इसी समय कांग्रेस के चुनाव में सुभाष बाबू जीते और सीतारमैया हारे। गान्धीजी ने यह हार अपनी हार मानी। भीतरी छिपा विवाद सामने अंगड़ाई लेता खड़ा हो गया। महताब बाबू गान्धीजी के साथ

थे। उत्कल में उनको वोट कम मिले। फलस्वरूप जानकीनाथ स्वराज भवन, जो कांग्रेस को मिलने वाला था, नहीं मिला। शरत बोष ने भाड़े की दाबी की। फलस्वरूप कांग्रेस कार्यालय उठ गया। राष्ट्रभाषा को भी उठाकर शेखबाजार में एक भाड़े के घर में ले जाया गया।

इस बीच श्री राजकृष्णजी बोष सभा के मंत्री बन गये। काम तो जैसे चलता था, चलता रहा। कलकत्ते की सहायता से धीरे-धीरे और अधिक प्रचार-केंद्र खुले। ब्रह्मपुर में भी राष्ट्र-भाषा प्रचार सभा की स्थापना कर दी गई थी, लेकिन कोई प्रगति नहीं देखी जाती थी।

सारा काम सर्व-साधारण की रजामन्दी पर होने लगा। लेकिन जनसाधारण की इच्छा थी और झुकाव था हिन्दी सीखने की ओर। लोग बड़े चाव से हिन्दी पढ़ते थे। यह पूर्ण विश्वास था कि स्वराज्य मिलने पर राष्ट्र-कार्य हिन्दी में होगा। अतएव जल्दी सीख लेना चाहिये।

१९३७ में रामसुखजी भारती वर्धा से यहाँ आये। ब्रह्मपुर का काम इनके जुम्मे कर दिया। वे तन-मन से अपने काम में लग गये। वहाँ के लिये उन्होंने अपने आपको पूर्ण लीन साबित कर दिया। जी-जान से लगे रहे।

एकमात्र ब्रह्मपुर का हिन्दी भवन है, जिसको सभा पूर्ण अपना कह सकती है। वह केवल रामसुख जी के हिन्दी-प्रेम और सभा के प्रति श्रद्धा से हो सका है।

कांग्रेस सरकार

१९३८ में कांग्रेस सरकारें बनीं। ओड़िशा में भी बनी। राजकृष्ण बाबू उस समय पार्लियामेंटरी सेक्रेटरी थे, और सभा के मंत्री भी थे। अपने पद पर आसीन होते ही आपने नया कदम उठाया। मैंने हिन्दी-शिक्षा की योजना बनाई और जरूरी आदेश दे दिया कि सभी स्कूलों में हिन्दी अनिवार्य रूप से पढ़ाई जायेगी। इसके संबंध में सभा के प्रचारकों से मिल करके प्रधान-शिक्षक हिन्दी-शिक्षा की व्यवस्था करें। जहाँ-जहाँ अपने प्रचारक थे, उनका पता दे दिया गया। शिक्षक-वृन्द दौड़े प्रचारकों से मिलने। हिन्दी सीखने की व्यवस्था की गई। इसमें बालकों की अभिरुचि पूर्ण थी, लेकिन प्रधान-शिक्षकों की अभिरुचि भय की थी। अवश्य श्री सुकान्तराव और श्री बाँछा-निधि शतपथी आदि दो-चार अपवाद स्वरूप थे। इनका आग्रह था। इस समय तक प्रोफेसर आर्त्तवल्लभ महान्ति, एम० ए० सभा में आ गये थे। उनके ज्ञान, बुद्धि और श्रम से सभा को अधिक लाभ हुआ। इसी समय चार पुस्तकें बन गईं। वही किताबें उत्कल के सारे स्कूलों में चलती। फलस्वरूप सभा को अधिक लाभ भी होने लगा। प्रत्येक सब-डिवीजन में केंद्र खोलने की बात हुई। लेकिन आर्थिक सहायता केवल कलकत्ते पर निर्भर थी और वह सहायता कलकत्ते बाजार पर निर्भर थी। कभी-कभी कह दिया जाता—शेयर मार्केट गिरता-चढ़ता है।

ऐसी दशा में काम आगे नहीं बढ़ाना चाहिये। अब मैंने अनुभव किया कि अगर गान्धीजी के पास उस दिन बसन्तलाल मुरारका न आते और यह सम्पर्क केवल गान्धीजी के साथ होता तो आर्थिक सहायता का काम सीधा होता। रुपये बिना हमारी योजना धरी न रहती। कारण, गान्धीजी की कृपा जिस पर सीधी रहती है, अर्थ का रोना नहीं होता है।

कांग्रेस सरकारें चलती थीं। ओड़िशा के प्रधान-मंत्री इस समय विश्वनाथ दास थे। वे शासन में कर्मचारियों के लिये बड़े ही दबंग साबित हो रहे थे। इसी समय जमीन की व्यवस्था के लिये जाँच कमेटी बनी थी। स्वामी विचित्रानन्द दास उस कमेटी के सभापति थे। वे सम्बलपुर जा रहे थे। जमीन व्यवस्था देखने और मत संग्रह करने के लिये। आपने मुझे भी साथ चलने के लिये कहा। इस यात्रा से राष्ट्रभाषा का भी काम होगा। प्रचार होगा तथा अर्थ संग्रह भी किया जायगा। सभा में जो स्थायी कोष की चर्चा थी, पूरा करना है। मैं उनके साथ हो गया। खर्च तो सब स्वामीजी का था और काम राष्ट्रभाषा का भी होगा।

इस यात्रा में मैं स्वामीजी के साथ-साथ रहा। सम्बलपुर, झारसूगड़ा, खरियाड़, नवपाड़ा आदि बहुत स्थानों पर घूमे।

घूमने के दो उद्देश्य थे। एक राष्ट्रभाषा का प्रचार, दूसरे कुछ अर्थ संग्रह।

स्वामीजी के साथ पश्चिमी उत्कल भ्रमण

स्वामीजी के एक मोटर थी। मोटर चलने में वायुवेग-वान और पथ के लिये भैंसा-गाड़ी से भी दबंग। ऊबड़-खाबड़ पानी, कान्दो, कीचड़ में मोटर अपनी गति मन्द नहीं कर रही थी। एक बार तो रास्ता ही भूल गये। जंगल में भोजन, नाश्ता-पानी हुआ। यह सामान स्वामीजी हमेशा साथ रखते हैं। रात हो गई। शीतल हवा, मोटर की सनसनाहट और बागो-बहार का जंगल बाग-सा बहार दे रहा था।

स्वामीजी जहाँ-जहाँ गये, राष्ट्रभाषा को आर्थिक सहायता देने की बातें की। सभी ने सहर्ष नाम लिखाया। लगभग २५ हजार रुपये का चिट्ठा हुआ और एक सज्जन ने भार लिया कि वे वसूल करके भेज देंगे। लेकिन आया एक पैसा भी नहीं।

स्वामीजी की साथ की यात्रा बड़ी ही मजेदार और आनन्ददायक होती है। वकील और फिर नामी वकील होते हुए भी उनमें सहृदयता, मानव प्रेम लबालब भरा हुआ है। वकीलों में एक अपवाद हैं ऐसा मैंने लोगों के मुख से सुना है। और अब कितने दिनों से उनके व्यवहार में पाता हूँ। इस यात्रा में मैंने उनको और अधिक निकट से अध्ययन किया। वे प्रथम उड़िया हैं, बाद में और; वे प्रथम राष्ट्रवादी हैं, कांग्रेसी हैं बाद में। वे प्रथम भारतीय सन्तान हैं, बाद में अन्य।

अनुवाद समिति तथा राष्ट्रभाषा-प्रगति

इसी समय साहित्य निर्माण के उद्देश्य से एक अनुवाद समिति बनी। उसके प्रथम चेयरमैन तो श्री बोधराम दुबे ही थे। लेकिन सारा साहित्य-निर्माण का काम श्री आर्त्तवल्लभ महांति करते थे। यह अनुवाद समिति सजग थी।

सभा के अबतक १५ केंद्र चलते थे। वार्षिक बैठक में जैसे-जैसे कलकत्ते पूर्व भारत राष्ट्रभाषा समिति से रुपये मिलते, हम काम भी वैसे-वैसे बढ़ाते जाते।

देशी राज को छोड़ ओड़िशा के शेष ६ जिला बालेश्वर, कटक, पुरी, गंजाम, कोरापुट और अनुगुल में केन्द्र थे। इसके अलावा प्रधान-प्रधान स्थानों में भी राष्ट्रभाषा प्रचार केंद्र खोले जा चुके थे।

१९३७ में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा की स्थापना हुई। तबसे उसकी परीक्षाएँ लेने लगे।

सन् १९३८ में सभा का रजिस्ट्रेशन हो गया। आशा थी कि सरकार से कुछ आर्थिक सहायता मिलेगी। इस समय शिक्षा-मंत्री सम्बलपुर के श्री बोधरामजी दुबे थे। राष्ट्रभाषा के प्रति उनका उत्तम ख्याल था। स्कूलों में हिन्दी का अच्छा प्रवेश हो गया। कटक के रेवेन्सा कालिजियेट स्कूल तथा गर्ल्स हाई-स्कूल में एक-एक हिन्दी शिक्षक रख लिया गया था।

गांधी सेवासंघ

१९३८ में गान्धी सेवा-संघ की वार्षिक बैठक डेलांग में हुई थी। सभी गान्धीवादी नेता और कर्मी जमा थे। इस समय श्रीयुत विश्वनाथ जी के प्रधानत्व में कांग्रेस सरकार चलती थी। गान्धीवादियों का जमा होना और हिन्दी में ही भाषण होना राष्ट्रभाषा के प्रचार के लिये मंगलमय था। कारण, इस सम्मेलन में केवल हिन्दी भाषा ही बर्ती जाती थी।

यहाँ गान्धीजी का पूर्ण दबदबा था। आन्तरिक डर था। जगन्नाथजी के दर्शन की लालसा लेकर चुपचाप बैठे रहने वालों में श्री राजेन्द्र प्रसाद (आजके राष्ट्रपति), सरदार पटेल, जे० बी० कृपलानी मुख्य थे। यह मैंने देखा है।

प्रसाद जी पटेल जी के साथ स्टेशन से लौटे। कृपलानी से चुस्कियाँ लेते गोपबाबू ने पूछा—दर्शन कर आये कृपलानी जी। कृपलानीने अपने सिरका चादर खाट में फेंका और खुद जोर से धम से लेटते कहा—अरे, इन देव दुश्मन गान्धीवादियों के साथ कभी कुछ काम भी बनने की आशा है?

यह मजे की हँसी झोपड़ी में गूंज गई।

मैंने यहाँ देखा कि मास्टर को छिपाकर एकान्त में जैसे बालक बीड़ी पीते हैं वैसे ही उक्त नेतागण एक एकान्त झोपड़ी में चाय पी रहे हैं; कोई शायद सिगरेट भी पी रहे थे।

इस डेलांग में गान्धी-सम्मेलन में मुझे देखकर कुछ लोग

हँसते और कहते चीन्ह गये थे। इसलिये श्रीमती रमाजी ने मेरे ऊपर भार दिया था—गोपबाबू के घर एक बकरी है, जो दूध देती है। उसको डेलांग ले जाना है। कारण, गान्धीजी, तो केवल बकरी का ही दूध पीते हैं। इसीलिये उसको वे छागमाता कहते हैं।

मैं कटक से ले चला, जो पूछता गांधीजी की माता कहता। फलस्वरूप उसका रेल-भाड़ा भी नहीं लगा और न मुझसे ही कोई माँगा। मैं उस छागमाता को लेकर डेलांग पहुँचा। माताको रेलसे नीचे उतारा। उसने जमीन पर लेट कर सत्याग्रह करने की चुनौती दी। उसे भला क्या मालूम था कि हमने सत्याग्रह किया और पुलिस वालों के द्वारा उठा कर पुलिस-मोटर के नीचे में पटके भी गये हैं। मैंने उस छागमाता के आगे पैर बाँधे और पीछे के भी। उठाकर कान्धे पर रख चलता बना। और लाकर श्रीमती रमा देवीजी के सामने पटक ही तो दिया। बोला—लो, सम्भालो अपनी गान्धीजीकी छागमाता को।

कितना सुन्दर काव्य कलामय कमनीय कोलाहल रवपूर्ण आनन्द की लहरें खेलती थीं उस झोपड़ी में।

लेकिन चौथे दिन का सबेरा बड़ा मनहूस निकला। कस्तूरबा पुरी गई थी। जगन्नाथजी का बड़े प्रेम तथा भक्ति से दर्शन किया। आने पर गांधीजी ने पूछा—तुम मंदिर के भीतर गई थीं? उन्होंने सच-सच कह दिया। गांधीजी का क्रोध उफन आया। वे बिगड़े बोले—वहाँ हरिजन नहीं आ पाते इसलिये हमने जगन्नाथजी को त्याग दिया है। और तुम

गई। बस, तुम्हारे साथ का बोलचाल ग्राज से बन्द, ग्राज खान-पान बन्द।

महादेव ने सती के साथ सत्याग्रह किया था। सीता वेश बनाया था, परन्तु, झूठ बोलीं थीं। गान्धीजी ने माता कस्तूरबा का त्याग कर रहे हैं, सच बोलने पर। ग्रगर वे कह देतीं कि नहीं गई थी तो किसी की हिम्मत नहीं पड़ती कि कोई कहे—हाँ! मन्दिर के ग्रन्दर गई थीं। ग्रौर न गान्धीजी ही महादेव के समान जँजान जोगी थे कि पलथी मारते ही सारी बातें देख लेते ग्रौर जान जाते।

कस्तूरबा रोई, गिड़गिड़ाई, नाक रगड़ी ग्रौर उन्होंने क्षमा-याचना भी की। फिर भी जहाँ हरिजन का प्रवेश नहीं है, उस मन्दिर में न जाने की कसम खाई, तब कहीं वह ग्रभिशाप छूटा।

यह गान्धीजी का काम बड़ा ही कठोर तथा निर्दयता-पूर्ण हुग्रा था। इस बात को सभी महसूस करते, लेकिन किसीकी हिम्मत नहीं होती थी कि उस कथन का विरोध करे या समझाये कि माता इतने बड़े कठोर दण्ड की ग्रपराधिनी नहीं हैं।

लौहपुरुष सरदार पटेल थे, देशरत्न डा० राजेंद्र प्रसाद थे। सभी का सिर नत था। बड़ी कड़ी बातें कहने ग्रौर कठोर उत्तर देने में ख्याति-प्राप्त सरदार पटेल चुप थे। सर्वप्रिय, ग्राकर्षक मधुर-भाषी डा० राजेंद्र प्रसाद भी मौन रहे। क्यों? डर के मारे। उनको डर था कि कहीं बूढ़ा, यह न कह दे कि तुम्हारे ऊपर मैंने भोजन का त्याग कर दिया है, जाग्रो। इस हत्या से तो चुप ही भला—मियाँ जाने ग्रौर उसकी बीबी।

कांग्रेस सरकार भंग

मैं पहले ही प्रथम परीक्षार्थी श्रीयुत बनमाली मिश्र का नाम उल्लेख कर आया हूँ। उन्होंने पूर्वतन साथ का सम्पर्क रखा है। विशारद पास किया। १९३८ ई० में आप खादी का काम छोड़ कर सरकारी स्कूल में हिन्दी शिक्षक बन गये।

यह समय भी बड़े ही आनन्द और उत्साह का था। सभी बड़े-बड़े आफिसर, हाकिम खद्दर खरीदने लगे थे। मालूम होता था, मानो स्वराज ही मिल गया हो। लेकिन था नाम-मात्र का।

१९४० में फिर कांग्रेस सरकारें धकियाया दी गईं। हमारे बनमाली बाबू बिना सूचना के हटा दिय गये। वर्धा और पूर्ण में जो खद्दरधारी कर्मचारी थे, कामों के लिये शिक्षा लेने गये थे, कांग्रेस सरकार जिस दिन गई, वहीं खद्दर को फेंका और मील के कपड़े पहिन लिये। यह बड़े मजे का स्वराज था और आनन्दमय नौकरशाही के देशप्रेम का नमूना था।

मुझे अब चालीस रुपये मिलते और भर पेट भोजन मिलता। आर्त्तबाबू के घर के साथ अधिक सम्बन्ध जुटा। मैं संगीत शास्त्र को कुछ भी नहीं जानता। उनके सोहबत से उसमें रस मिला। मैं अपने को विलासी भी पाया। तबला तथा सितार भी जुटाया। वास्तव में संगीत-शास्त्र कितनी स्वर्गीय आनन्दमय विद्या है, मुझे वीणापाणी के कण्ठ से मालूम

दिया तथा उसके संगीत शिक्षक श्री श्यामसुन्दर धीर तथा श्री दानूगोपाल दफ्तरी की सोहबत से मिला। उन लोगों की कृपा से कुछ रागों के नाम तथा उनके कलात्मक मोहक ज्ञान का परिचय मिला। सूरदास ने भी लिखा है—संगीत को सुनाकर व्याध मृग पर बाण छोड़ता है। वास्तव में स्वर में वशीकरण शक्ति है। मैं जब वीणापाणी के मुख से केदारा राग का आलाप सुनता तो मुझे लगता मानों मैं हिमालय की चोटी पर चढ़ा जा रहा हूँ। मैं अपने उस आनन्द को आज भी राग-रागनियों के आलाप में रमा पाता हूँ। एक समय था, जब मैंने ठाकुर ओंकारनाथ के आलाप को प्रलाप समझा था और जो सामने बैठे उनकी समवाली ताल पर झूम जाते थे, उनको पागल समझता था। परन्तु आज मुझे गाने अच्छे नहीं लगते, बल्कि, आलाप ही पसन्द आते हैं। यही कारण है कि रेडिओ में आधुनिक गाने मैं कम सुनता हूँ। मुझे अच्छे ही नहीं लगते। मैं इसको अपने एक-एक प्रकार की ज्ञान की पूर्ति पाता हूँ।

अब मुझे लगने लगा कि योगी लोग जिस नाद को श्रवण करने के लिये ध्यान लगाते हैं, वह यही परम आनन्दमय शक्तिमय तथा ज्ञानमय नाद है।

साहित्यिक अभिरुचि

यहीं से मेरा मन साहित्य में अधिक रमने लगा। जो उपन्यास कहानियाँ, नाटक मुझे व्यर्थ के लगते थे, उनको मैं पढ़ गया। प्रेमचन्दजी के कई उपन्यास मैंने दो-तीन बार पढ़े हैं। मेरा ख्याल है कि उन जैसा उपन्यास, कहानी लेखक व्यक्ति नहीं हुआ है। उनके मुहावरों का प्रयोग निराले होते हैं। उन्हींको अगर हम भाषा में व्यवहार करेंगे तो दो-तीन पन्नों में भी खुलासा अर्थ प्रकाश नहीं कर पायेंगे। लेकिन एक वाक्य सारे भाव को सामने ला देता है। उनकी यह कला अपनी है। उनका ढंग अपना है। वे कितने महान् थे!

स्कूलों में चलने वाली किताबों के लेखन का कार्य मैंने किया। उसके लिये अवश्य प्रत्येक प्रांत से हिन्दी पाठ्य-पुस्तकें मँगाई थी। लेकिन उत्कल के लायक पुस्तकें रचना करने की चिन्ता प्रथम मैंने की थी।

अनुवाद समिति बनने का एकमात्र उद्देश्य था साहित्यिक चर्चा तथा उसीके अनुसार प्रकाशन करने का मन था। लेकिन अर्थाभाव के कारण यह भी न हो पाया। कोश का काम भी जारी था। उसका काम भी मैंने ही उठाया था। आज तक वह प्रकाशित न हो पाया है। इसमें सारे उर्दू हिन्दी शब्दों को ले लेनेका प्रयास किया है। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित संक्षिप्त शब्द-सागर हमारा मार्ग-दर्शन कर रहा था। जिन-

जिन शब्दों के हमने लेने का निश्चय किया था, नीचे चिन्ह लगा दिया था। उसकी कापी करते थे स्वर्गीय गोपालचन्द्र मिश्र। वे सभा के प्रचारक थे। इस ग्रंथ-कार्य के लिये भी सभा उनको मासिक सहायता देती थी।

श्री आर्त्तवल्लभ महांति, एम० ए० हमारे इस काम में हमेशा से सहायक रहे हैं। उनका श्रम और सभा के साहित्य रचना कार्य में मार्ग-दर्शन अत्युत्तम होता आता है। इसको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता।

राय बहादुर आर्त्तवल्लभ महान्तिजी एक उत्तम सज्जन, संस्कृत तथा ओड़िया भाषा के विद्वान् हैं। उनका स्वाध्याय उत्कल के छात्रों के लिये अनुपम आदर्शमय है, ग्रहणीय है और अनुकरणीय भी। उनकी सादगी निराली है। सभा का सौभाग्य है कि उन जैसा साहित्यिक व्यक्ति मिला है। जो साहित्य-निर्माण के पथ का प्रदर्शक हैं।

हिन्दी पढ़ने में मत

राष्ट्रभाषा प्रचार कार्य दिन-दिन बढ़ रहा था। कांग्रेस सरकार जा चुकी थी। हिन्दी पढ़ना चाहिये कि नहीं, बालक अपने-अपने अभिभावकों से लिखा कर लाये—ऐसी सूचना तत्कालीन डी० पी० आई० की स्थायी प्रधान शिक्षकों के पास छात्रों को मिली। इस सूचना में ६० प्रतिशत मत आये —हिन्दी पढ़ना चाहिये। इस सूचना का आन्तरिक मतलब था, हिन्दी को उटाना। एक भी मत अगर विरोध के, बहु मत के पक्ष में होता तो भी हिन्दी को स्कूलों से खतम करने के लिये काफी बल मिलता। पर चूँकि यह कामना सफल नहीं हुई, हिन्दी पढ़ाना स्कूलों में जारी रखा गया। सभा के आदमी स्कूलों में जाते अपने-अपने घंटे में पढ़ा कर चले आते। यह प्रणाली आज तक भी जारी है। प्रगतिपूर्ण विवरण पुस्तक के परिशिष्ट में आप देख सकेंगे।

घर-घर घूम कर पढ़ाने का मेरा क्रम जारी था। इसी बीच संगीत के साथ केमरे का भी शौक हुआ। बढ़िया रोलीकोर्ड केमरा मैंने खरीदा। कटक के बड़े-बड़े घरों तक मैंने फोटो उतारी है। उसमें मुझे काफी घाटा रहता। कोई प्रिण्ट चार्ज नहीं देता। हाँ, प्रसंशा जरूर मिलती। लेकिन, आर्थिक कमी को प्रसंशा कभी पूर्ण न करती। मैंने १५० रुपये में उसे बेच दिया।

होमियोपैथिक पर प्रेम

आगे मैंने लिखा है कि एक सायकिल खरीद लिया था। सब शौक में फुटबाल खेल और सिनेमा भी शामिल है। इन दो खेल में साथी रहते डाक्टर सिराजउद्दीन। शाम के समय हमलोग सिनेमा रोज जाते। और छः आने की टिकट से ज्यादे वाली सीट पर कभी न बैठते। एक दिन की बात—हमें टिकट न मिला तो लौट चले। एक सज्जन ने कहा—एक रुपये वाला टिकट है। तो डाक्टर साहेब ने कहा—हमलोग हैं स्थायी ग्राहक, इसलिये छः आने से ज्यादे नहीं खर्च करेंगे।

हम सिनेमा देखते तथा दोनों उसकी समालोचना करते। लौटते समय हमको सिनेमा की कथा शांति नहीं दे पाती थी। झूठ और अस्वाभाविक विषय पर रंज होता तो लेखक तथा मालिक को और पार्ट करनेवालों को गाली देते घर आते; पर शाम को जाते जरूर ही।

डाक्टर साहेब से शेखबाजार में आने पर परिचय हुआ था, और एक घटना के कारण। अब मैं जरा आराम भी चाहने लगा था। एक आराम कुर्सी लाया। उसमें कपड़ा लगा था। एक रोज शाम को मैं उस पर आराम से लेटा था। दोनों हाथ पीछे के डण्डों के बीच में था। हठात् कुर्सी पीछे की ओर गिर पड़ी। मैं हाथ के ऊपर और हाथ पीठ के नीचे दबा था। मुश्किल से करवट बदल कर उठा तो नख से लेकर एक इञ्च

तक दायें हाथ की अंगुली फट गई। रक्त की धारा बह निकली। उसी समय पाड़े का एक लड़का आया और देखा। उसने जल्दी जाकर डाक्टर सिराजउद्दीन साहेब को बुला लाया। आपने देखते ही झट होमियोपैथिक दवा लाकर खिलाया और बाँध भी दिया। थोड़ी देर बाद दर्द कम मालूम दिया। रात को फिर एक खुराक खाया; दर्द कम हुआ और ५–७ दिन के बाद अंगुली अच्छी हो गई। तबसे होमियोपैथिक के प्रति मेरी पूर्ण श्रद्धा हो गई है। और आज घर में भी उसका आदर है।

यही परिचय सिनेमा देखने में काम आया। हालाँकि आज हम दोनों में वह उत्साह नहीं रहा है, फिर भी मास में एक-दो बार सिनेमा देखते हैं। वह भी जब लोग काफी तारीफ करते हैं। साधारण बात यों है कि सिनेमा से मुझे कुछ मिलता नहीं है, उल्टे नैराश्य भाव जात होते। इसका कारण अगले पन्नों में यथा स्थान आयेगा।

राष्ट्रभाषा के प्रति प्रेम

लोगों में राष्ट्रभाषा के प्रति अनुराग बढ़ता जाता है। ओड़िशा ही मुझे ऐसा उदारमना लगा जहाँ कि कोई विरोध भाव नहीं। खुदगर्जी भावनाएँ नजर नहीं आती। अवश्य थोड़ी-सी असुविधाएँ नजर आ जाया करती हैं। लेकिन, वह हिन्दी के लिये नहीं, बल्कि सीमा-विवाद के कारण है। और इसमें बिहार की थोड़ी-सी ज्यादती है। वे उदार नहीं बन रहे हैं।

यहाँ राष्ट्रभाषा काम को और अधिक व्यापक और लोकमुखी बनाने के लिये यह काम अपनाया। २–४ दिन में एक बार छोटी-बड़ी सभी अदालतों में जाता, परिचित वकीलों से मिलता, बातें करता। उनसे कभी-कभी मौका पाकर हिन्दी सीखने के लिये प्रेरणात्मक निवेदन करता। कोई पक्ष में बोलते तो कोई विपक्ष में। कोई कोर्ट को छोड़कर सभी स्थानों में हिन्दी अनिवार्य करने का परामर्श देते। मजेदार की चर्चा होती। प्रचार के लिये यह मौन और सुन्दर पथ मुझे मालूम दिया। इन बुद्धिजीवियों में प्रवेश करने का और कोई मार्ग नहीं होता। लेकिन मैंने देखा कि हिन्दी के खिलाफ कोई वकील नहीं थे।

स्वामीजी प्रसिद्ध वकील हैं। मैं मिलने के लिये कोई समय और काम खोज ही लेता। किसी को खोजने के बहाने सभी कचहरियों में भ्रमण करता आता। यह परिचय का

बड़ा साफ सुन्दर मार्ग था। मैंने इस मार्ग की चर्चा और अपने आन्तरिक उद्देश्य की चर्चा किसी से नहीं की थी। अधिकांश समय स्वामीजी के पास बीतता।

स्वामीजी सभा के सभापति हैं। जो भी वकील उनके पास आता, उनसे कहते—ये पाठकजी हैं। राष्ट्रभाषा प्रचार सभा के प्रचारक हैं, संचालक हैं, मैं सभापति हूँ।

स्वामीजी नामी वकील हैं। परन्तु उनकी सरलता उनके पेशे से अधिक है। कई घटनाएँ उनकी सरलता के संबंध में हैं—

स्वामीजी के सामने कोई अपनी दीनता दिखलाता तो वे उसको सहन नहीं कर सकते। झट उसकी मदद करते हैं। वकालत में पैसे खर्च करके कागजादि खरीद लाते हैं और मुकदमा करते हैं बिना कुछ लिये।

उनके समीप के मित्र, सहायक वकील उनसे हजारों रुपये लिये हैं और लेते हैं। लेकिन, जो लेते हैं, देते कभी नहीं हैं।

एक दिन की मेरी आँखों देखी घटना है। मैं वहीं कोर्ट में बैठा था। स्वामीजी १ बजे खाने बैठे तो एक वकील साहेब समोसे खाते आये। स्वामीजी के यह गुण है कि खाते समय कोई आये तो खाने के लिये जरूर ही पूछेंगे। उनसे भी पूछा। वे भला क्यों छोड़ें, बैठ गये और लगे खाने। बीच-बीच में कहते जाते—इस तरकारी का प्रेपरेशन बहुत अच्छा है।

स्वामीजी—और लीजिये!

वे—हाँ, थोड़ा-सा दे दीजिये। बात यों है कि चार रोटी में से स्वामीजी ने एक खाई होगी, लेकिन मैंने गिना कि वे तीन खा गये। सारी तरकारी, दाल खा गये और एक ग्लास पानी पीकर रुमाल में हाथ पोंछ चल दिये।

मुझे हँसी आई। मैंने स्वामीजी से कहा भी कि आप को लोग फुसलाना जानते हैं।

स्वामीजी ने प्रेम से कहा—क्या करें पाठक जी? खाने की चीजें हैं; आते हैं, तो भला कैसे मना किया जाय। खा गये, तो खा गये।

स्वामी विचित्रानन्द दासजी के साथ मेरा कई स्थानों में भ्रमण का संबंध है। स्वामीजी के साथ की यात्रा बड़ी ही सुखमय तथा आदर्शमय होती है और सीखने तथा गुनने लायक होती है।

उर्दू और राष्ट्रभाषा

इसी बीच राष्ट्रभाषा में और एक बीमारी आ खड़ी हुई। वह है उर्दू का अप्रत्याशित भाव से आगमन। किसीने गान्धीजी से पूछा--आप हिन्दी को जितना मान देते हैं, प्रचार करते हैं, उर्दू का क्यों नहीं करते? क्या उर्दू भारत की राष्ट्र-भाषा नहीं है? क्या यह आपका जातीय पक्षपात नहीं है?

गान्धीजी के लिये यह चिन्ता का विषय था। उन्होंने इस सवाल को छोड़ना या उपेक्षा करना भारत एकता में, स्वराज की तैयारी में खतरनाक समझा। उन्होंने स्वीकार कर लिया कि हिन्दी के साथ-साथ में उर्दू का भी प्रचार करूँगा। लेकिन उसे स्वीकार करना जनता तथा भाषा सीखनेवालों की स्वाधीनता पर निर्भर है।

इस घोषणा से भारत भर में तहलका मच गया। गान्धीजी के हाथ से सम्मेलन ने राष्ट्रभाषा प्रचार समिति को अपने हाथ में ले लिया।

गांधीजी के कथन पर काका साहेबजी ने उर्दू को अपनाया। वे गांधीजी का आदेश टाल नहीं सकते थे। अवश्य एक भक्त की दुर्बलता है। लेकिन इस दुर्बलता में अकेले वे ही नहीं थे, श्री राजेन्द्र प्रसादजी जैसे व्यक्ति भी शामिल हैं। एकबार लोगों ने उनसे कहा—आप गान्धीजी से कहिये। बोले—मैं जानता हूँ कि गान्धीजी का यह पथ ठीक नहीं, लेकिन मैं उनका विरोध

नहीं करूँगा। गान्धीजी ने हिन्दी का नाम हिन्दुस्तानी रख दिया था। उस पर उन्होंने भाष्य किया—वह हिंदुस्तानी जो उत्तर भारत के प्रान्तों में आम लोगों में बोली जाती है।

लोग अभी तक यह समझ ही नहीं पाये थे कि हिन्दी क्या है और हिन्दुस्तानी क्या है? अहिन्दीवाले तो हिन्दुस्तानी को ही भारत की राष्ट्रभाषा समझे बैठे थे। हमारा भी यही विचार था। जब लोग पूछते तो हम कहते—हिन्दी जो है, हिन्दुस्तानी वही है। उसमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। हिन्दी शब्द भारतीय भाषा का शब्द नहीं है। वह अरबी और फ़ारसी का है। जिसका अर्थ है काफिर। काफ़िरों की भाषा को हिन्दी बोलने लगे और जब भारतीयों ने उसे अपनाया कि उसके घृणा-सूचक अर्थ को माँजपोंछ करके शुद्ध-पूत भावना में बदल दिया। उसी के नाम से धर्म नाम चल पड़ा तो आज वे लोग अपने शब्द को बदलते हैं। कहते हैं—हिन्दी का अर्थ है संस्कृत।

यह गलत धारणा थी। लेकिन, गान्धीजी ने उसकी व्याख्या की—हिन्दी का अर्थ है संस्कृत-मिश्रित भाषा। यह कुछ हद तक सत्य है। लोग हिन्दी में लम्बे-लम्बे कठिन भाव-व्यंजक शब्दों का व्यवहार करते हैं। हिन्दी की धारा सरल-सीधी नहीं चल रही है। उसकी गति तिरछी मिरछी बाँकी टेढ़ी है। फलस्वरूप लोग कहने लगे—आजकल के साहित्य की अपेक्षा प्राचीन कवियों का साहित्य सुन्दर है, बोधगम्य है और स्वार्थ परायण भावों से लोगों को दूर रहने का पाठ पढ़ाता है। जिससे लोग भक्त, सेवक और इन्सान बनने की कोशिश करते

हैं। प्रचलित शिक्षा आज लोगों को इन्सान बनने की सीख नहीं देती। केवल अपने-अपने पेट के लिये लोग दौड़ लगा रहे हैं। अपनी प्राचीन परम्परा को सुला दिया है, भुला दिया है।

गान्धीजी का यह नारा बुरा नहीं था। इसमें राष्ट्रभाषा के साथ एक नया बखेड़ा खड़ा हो रहा है, इस पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया है। परन्तु, गान्धीजी के भक्त भला क्यों माननेवाले हैं ? गान्धीजी ने कहा है, बस लगे चिल्लाने। एक बार तो एक सज्जन से काफी झड़प हो गई। मैंने उनसे निवेदन किया कि हिन्दी शब्द ही भारत का नहीं है। वह अरबी, फारसी का शब्द है। जिसका अर्थ है काफिर या काफिरों की भाषा। इस हिन्दू शब्द की उत्पत्ति का कारण भी वही लोग हैं। कारण, वे ठीक उच्चारण नहीं कर पाते थे। फारस से आनेवाला काफिला 'ह' का उच्चारण 'स' करते थे। इसलिये सिन्धु नदी के किनारें वास करने वालों को सिन्धु न कह कर हिन्दू कहते थे। अगर वे 'स' का और 'ह' का उच्चारण कर पाते तो यह सिन्धु शब्द कभी हिन्दू न हो पाता। काल-क्रम से जैसे-जैसे उनका आगमन होता गया, वैसे-वैसे सिन्धु-वासी आगे की ओर बढ़ने लगे और नतीजा यह हुआ कि सारा भारत हिन्दुस्तान बन गया। यहाँ तक गहराई पर गया कि हिन्दूधर्म के नाम से ख्याति हो गई। वहाँ के रहने वाले हिन्दू थे, और उनकी भाषा हिन्दी बन गई। यह था हिन्दी के प्रादुर्भाव का इतिहास ! इकबाल ने भी इसी को सामने रख कर कहा है—"हिन्दी हैं हम, वतन है हिन्दोस्ताँ

हमारा।"

परन्तु सुनता कौन है? बात चल पड़ी तो चल पड़ी। यहाँ तक की बात जिद पर उतर गई। काका जैसे व्यक्ति भी इस उर्दू-हिन्दी के झगड़े में शामिल रहते। उन्होंने राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति को बढ़ाया था। वे ही इसका उत्थान देखने वाले अब अवसान देखने के लिये पूर्ण इच्छुक हो गये।

उर्दू-हिन्दी का झगड़ा ओड़िशा में लगा था। यह मुझे अच्छा नहीं लगा। मैं चुप था। इस झगड़े में पड़ना ही नहीं था। मैं बाहर जाता और इस पर एकान्त में सोचता, तो यह पूर्ण राजनीतिक विषय लगता। मुझे नहीं मालूम होता है कि इसमें कौन-सी एकता निहित है। यहाँ तो मुसलमान बालक भी ओड़िया पढ़ते हैं। किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं मालूम होता। अगर हम उर्दू का बखेड़ा यहाँ भी शुरू करेंगे तो यहाँ (जहाँ कि भाषा का झगड़ा नहीं है, वहाँ) पर भी इसका श्रीगणेश हो जायगा, जिसका नतीजा यह होगा कि भाषा को लेकर पूर्णतः अशान्त वायु-मण्डल पैदा हो जायेगा। दूसरी बात है कि इस समय बालकों को ओड़िया, संस्कृत और अंग्रेजी अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ाना पड़ता है, इसमें हिन्दी भी रखी गई है। और अब उर्दू भी रखी जायेगी तो, एक भाषा का और भार बालकों पर पड़ेगा। यह भी अगर सम्भव मान लिया जाय तो भी हिन्दी का अ, आ, पढ़ाने वाले शिक्षक उसके साथ-साथ बगल में उर्दू लिपि भी सिखायें तो यह भाषा, राष्ट्र के काम के लिये न होकर, खिलवाड़

की बात हो जायेगी। और फिर यह सम्भव भी तो नहीं है कि एक ही आदमी एक ही समय, साथ-साथ दो भाषाएँ पढ़ाता जाय, फिर ऐसे समय जब कि राष्ट्र की भाषा एक ही होनी है। दो का होना खतरनाक है। गड़बड़ी को न्योता देना है। इससे राष्ट्र का काम सुचारु-रूप से नहीं चल सकता। कहावत भी है—"दो नाव की सवारी खतरनाक होती है।" कारण, राष्ट्रभाषा कभी भी व्यक्ति या समाज के लिये नहीं होती। वह राष्ट्र की एकता और राष्ट्र के काम के लिये होती है। जिसे सर्व-सम्मति से मान लिया जाता है, वही होती है।

मैं इसको मानने के लिये तैयार नहीं था कि दोनों लिपियाँ एक ही समय में, एक ही आदमी पढ़ाये। परन्तु, प्रचारक को दो लिपि जान लेना बुरा नहीं है। उत्तम है। इससे और कुछ भी लाभ न हो, लेकिन मुसलमान लड़के यह तो जानेंगे कि शिक्षक हमारी भाषा-लिपि भी जानते हैं। यह सद्भावना प्रेम-भाव बढ़ाने वाली होगी, और राष्ट्र के काम को वेग से चलाने वाली होगी। यों तो लिपियाँ, भाषाएँ जितनी भी सीखी जायँ मंगलमय ही होगी। लेकिन सब के गले उतरने वाली बात यह नहीं है, यह तो प्रेम की बात है।

सुना गया कि गान्धीजी की प्रेरणा से वर्धा, सेवाग्राम वाले उर्दू पढ़ते हैं। उनको उर्दू लिपि प्रेम-लिपि भी लग रही थी। मैं भी वर्धा गया था, कि देखें उर्दू लिपि कैसी प्रेम-लिपि है, कितनी आसान है? मैंने देखा कि चर्खा कातने वाले सज्जन सामने उर्दू कायदा खोले बैठे पढ़ते हैं। क्या है? खुदा जाने।

आध घण्टा, एक घण्टा जब नियमानुसार चरखा कातना बन्द कर दिया गया तो उसी चरखे के भीतर पुस्तक भी रख दी गई। एक आदमी से पूछा—"उर्दू लिपि आ गई है ?" उत्तर मिला—"हाँ !" आलिफ , बे, पे, ते, टे, से, आदि अक्षर सुना गये। हमलोग चले आये। मार्ग में हँसते हुए पं० रामेश्वर दयाल दुबे ने कहा—"लोग सीखें तो अच्छा, न सीखें तो अच्छा। गान्धीजी ने जिस दिन उर्दू सीखने का आदेशनामा जारी किया है, दूसरे दिन हमारे यहाँ २ साल से फटी पड़ी, दीमक तथा चूहे-चाटी "जामियामिलिया के उर्दू कायदे" बिक गये हैं। अन्यथा समिति का ६–७ सौ रुपयों का घाटा होता।

जो भी हो, बीमारी बढ़ी। आसाम, महाराष्ट्र, गुजरात और बम्बई में हिन्दुस्तानी प्रचार की अलग-अलग समितियाँ बन गई। मुसलमानों को खुश रखने के लिये गान्धीजी ने उर्दू लिपि को चलाया। परन्तु, प्रान्तों में खींचातानी आरम्भ हो गई। गान्धीजी के अनुसार उर्दू लिपि चलाने वाले शुद्ध माने जाने लगे, और बाकी के सब अशुद्ध।

कलकत्ते में मुझ से एक गांधीवादी सज्जन ने कहा—"जो दो लिपियाँ सिखायेगा, उसको गान्धी पूर्ण आशीर्वाद देंगे"। मैंने कहा—"हमको गान्धीजी का आधा आशीर्वाद मिले, बाकी आधे में हम अपना श्रम मिलाकर पूरा कर लेंगे। लेकिन, मेरे लिये तो यह सौभाग्य की बात थी कि जो यहाँ उत्कल में गांधीवादी माने जाते थे, वे सब इसी समिति में भी हैं। गान्धीजी के अनुयायी हैं। लेकिन, उर्दू

लिपि उत्कल में चले, इसके समर्थक नहीं मिले। यह बात दूसरी थी कि अगर गान्धीजी बुलाकर कह देते तो अनिच्छा के बावजूद भी उर्दू लिपि चला देते। लेकिन, गान्धीजी की महानता तो कम हो जाती। उनका एक के प्रति पूर्ण पक्षपात समझा जाता।

गान्धीजी ने मुझे प्रेमपूर्ण आशीर्वाद दिया था। लेकिन मैंने उनकी उर्दूवाली आज्ञा को नहीं मानी। कारण, मुझे पसन्द नहीं था। और दूसरी बात यह थी कि गांधीजी दुनिया को जानते थे। वे कभी भी आन्तरिक कामना नहीं कर सकते थे कि आबाल-बृद्ध-वनिता के लिये उर्दू जानना परम पुण्यमय काम है; अतएव सभी अवश्य सीखें ही।

स्वराज्यान्दोलन

कांग्रेस का लक्ष्य था, पूर्ण स्वराज। इसके प्राप्त करने में सभी लगे थे। लेकिन मैं अपने को अब हिन्दी में रमा चुका था। इसमें किसी आराम और तकलीफ से जी चुराना भी शामिल नहीं हो सकता। चारों ओर अशांत वायुमण्डल था। जितनी गरमाहट देश में देखी जाती थी, राष्ट्रभाषा के प्रति भी उतना ही अधिक अनुराग लोगों में परिलक्षित होता दिखलाई देता था। हिन्दी सीखने की माँग मेरे पास आती। लड़कियों को पढ़ाने उनके घर जाना पड़ता था। माँग अधिक होने के कारण, मैं किसी के घर सप्ताह में एक बार, तो किसी के यहाँ सप्ताह में दो बार जाता। जब उन लोगों को अपनी मजबूरी बताता तो मेरे प्रति वह सहानुभूतिपूर्ण हमदर्दी जाहिर करते, प्रेम-भाव प्रगट करते।

राष्ट्रभाषा के प्रति प्रेम का अर्थ था, राष्ट्र के प्रति अपना अनुराग, स्वराज के प्रति पूर्ण श्रद्धा-भक्ति, तथा हम भारतीय एक हैं, भारत हमारा देश है, के नारे जो गुन्जरित हुआ करते थे, उनके प्रति अपना सहयोग।

आखिरकार सन् १९४२ में गान्धीजी ने कह दिया—"करो या मरो।" अंग्रेजों से कहा—"तुम यहाँ से चले जाओ।" गान्धीजी ने यह काफी दिनों के बाद कहा था। वे समय की ताकत को जानते थे। समय आया तो कह

दिया। सारे देश ने इस कथन का समर्थन किया। "अंग्रेजो ! यहाँ से चले जाओ", का नारा सर्वत्र गूँज उठा। "करो या मरो" की वीरतापूर्ण हुँकार लोगों के नस-नस में परिव्याप्त हो गई। लाईनें क़ाटी गईं, ट्रेन जलाई गई, सरकारी कार्यालय अधिकृत किये गये। गोलियों की बौछार भी चली। अच्छा-खासा राक्षसी ताण्डव शुरु हो गया। एक रोज रात में श्री सुरेंद्रनाथ द्विवेदी आये। वे मुझ से परिचित थे, उनका यह भी विश्वास था कि मेरे पास जाने पर उन्हें कोई खतरा नहीं रहेगा। मैंने उनके लिए उपयुक्त स्थान ठीक किया। काम करने के लिये अपने साथी पं० बनमाली मिश्र को दिया। वे ओड़िया के सुन्दर अक्षर स्टैंसिल पेपर पर लिख सकते थे। वही आदेशनामा का काम करने की उत्साहपूर्ण वाणी रहा करती थी। साथ ही ऊपरी सन्देश-वाहक का काम भी करता था। लेकिन, मैं थोड़ा डरता था कि अगर पकड़ा गया तो यह काम, जो बढ़ा हुआ नजर आता है, उसमें कुछ बाधा आ जावेगी। मैं फिलहाल जेल जाने के लिये तैयार नहीं था। साथ ही स्वाधीनता के आन्दोलनों में काम करने वालों के प्रति भी मैं अपनी हार्दिक सहानुभूति कम नहीं करना चाहता था। कारण, सब के समान मैं भी अंग्रेजों का विरोधी था। उनका शासन मुझे भी पसन्द नहीं था। जगह-जगह की खबरों ने दिल और दिमाग को गरम व चञ्चल बना दिया था। आज इतने बजे यहाँ गोलियाँ चली, अमुक स्थान काँग्रेसियों ने दखल कर लिया है। ये बातें उत्साह से शरीर को फ़ुला देतीं थीं।

मैं कलकत्ते गया। वहाँ से कुछ प्रेरणा मिलने की बात थी। कारण, कलकत्ते में केंद्रीय निर्देश आता और वहाँ से कटक (उत्कल) में आता। 'अभयाश्रम खादी भण्डार' इसका केंद्र था। जिससे मिलना था, मुलाकात नहीं हुई। मेरे पास कुछ नहीं था। मैं सोचता कि अगर तलाशी ली जाय तो कुछ अपने पास न निकलना चाहिये। लेकिन यहाँ से द्विवेदीजी ने लिखा––"पाठकजी जाते हैं, सारा हाल बतायेंगे।" यह खत गुप्तचर विभाग ने पकड़ लिया। मैं जब कलकत्ते से लौटा तो मुझे बुलाया गया, और कलकत्ता जाने का कारण पूछा। वह खत भी दिखलाया, जिसमें लिखा था, "पाठकजी जाते हैं, सारा हाल बतायेंगे।"

मैंने कहा––"पाठक जी और भी तो हो सकते हैं?"

इसपर कहा गया––"परन्तु, उड़ीसा में पाठकजी अभी तक एक ही हैं।"

मैं भला इसका क्या उत्तर देता, चुप रहा। इस घटना के लगभग १५ दिन बाद हम दोनों (बनमाली बाबू और मैं), पकड़ लिये गये। केवल २ घण्टे का समय तैयारी के लिये दिया गया।

पूर्व भारत राष्ट्रभाषा प्रचार सभा, कलकत्ता राष्ट्रभाषा के काम में सहायक रही। इस समय बढ़ते-बढ़ते उसकी सहायता वार्षिक ३ हजार रुपये तक हो गई थी। इसीलिये आर्थिक कठिनाइयाँ कम हो गई थीं। प्रायः १५–२० केंद्र भी चल रहे थे।

जेलयात्रा

मैं जेल के लिये तैयार नहीं था, पर पकड़ लिया गया। सभा के सभापति स्वामी विचित्रानन्द दास तथा साथ काम करने वाले श्री गोविंदचन्द्र मिश्र पर कार्यालय का भार रहा। हम पकड़े गये, इसलिये लोगों में उत्साह और भी अधिक देखा गया। लोग अच्छी तरह समझने लगे कि राष्ट्र-भाषा प्रचार सभा स्वराज के कार्यों में भी हाथ बटाने वाली परम सुन्दर संस्था है।

जेल जाने के बाद ही हिन्दी पढ़ाने की योजना बनने लगी। बनमाली बाबू तो दूसरे दिन से ही एक हिन्दी पुस्तक का उड़िया अनुवाद करने लगे। बाकी क्लास के लिये कागज, कलम की आवश्यकता थी, सो मिल गया। हमलोग चूँकि नजरबन्द कैदी थे, इसलिये पहिनने आदि के कपड़े साथ थे। कुछ जेल से भी मिल गये थे। जेल में मैंने देखा कि १६३२ में यह मेरे लिये जितनी सुन्दर और शान्तमय दीखती थी, अब वैसी नहीं है। मुझे इसकी चिन्ता थी कि जो काम हमने कटक में आरम्भ किया है, कैसे चलेगा? परन्तु दो-चार दिन में वह आशा भी छूट गई। कारण, आज हमें मालूम हो गया था कि हमारे जेल आने में ऐसी धारा लगाई गई है कि जिसके कारण हम जेल में अनिश्चित काल तक के लिये बन्दी रखे जा सकते हैं।

५–७ दिन कटक जेल में रहने के बाद हमें ब्रह्मपुर जेल भेज दिया गया। यहाँ एक विराट हाता, सरकार ने इसी काम के लिये पहले से ही बनवा रखा था। वे तो जानते ही थे कि काँग्रेसी जेल आवेंगे। इसलिये लम्बे-लम्बे छप्पर के घर बना लिये गये थे।

इस जेल में उत्कल के सभी जिले के आदमी थे। और सभी परिचित थे। जिनसे परिचय नहीं था, यहाँ २–३ दिन में उनसे भी हो गया था। अब हम हिन्दी क्लास आरम्भ करने की तैयारी में लग गये।

हमारे लिये यह काम प्रिय था। मैं और बनमाली बाबू अपने-अपने काम में जुट गये। बड़े ही शान्ति और श्रद्धा से लोग हिन्दी पढ़ते, रामायण पढ़ते। तुलसीकृत रामायण तो काफी संख्या में आ रही थी। उसके बाद मुंशी प्रेमचन्द की कहानियाँ तथा राष्ट्रीय नेताओं की जीवनियाँ भी आने लगी।

जो बौद्धिक-ज्ञान के भूखे थे, वे गान्धीवाद और समाज-वाद का शास्त्रीय अध्ययन करते थे। गीता कर्मयोग पर भी व्याख्या होती। इधर पं० लिंगराज मिश्र ने "शकुन्तला" नाटक की पढ़ाई आरम्भ कर दी। उसके समाप्त होने के बाद बाल्मीकि रामायण आरम्भ किया। बाल्मीकि रामायण को गद्य में ओड़िया-अनुवाद भी कर रहे थे। यह काम आपका नियमित जारी था।

जेल में जो गरमा-गरम विचार व्यक्त हुआ करते थे, वे थे साम्यवाद के। उनकी दृष्टि में गान्धी, जवाहर कुछ नहीं

थे। जो कुछ हैं, बस स्तालिन हैं। फलस्वरूप, कांग्रेस वालों ने उनका वहिष्कार कर दिया। हमें भी उनसे न मिलने के लिये कहा गया। लेकिन राष्ट्रभाषा सब के लिये समान है। इसलिये हम दोनों (बनमाली बाबू और मैं) उनके वार्ड में जाते, हिन्दी पढ़ाते और चले आते।

एक दिन की बात है। एक कम्युनिस्ट भाई हिन्दी में कहीं से मार्शल स्तालिन की जीवनी पा गये और पढ़ने लगे। इसी सिलसिले में कह गये—"स्तालिन में जो विचार हैं, गान्धी जवाहर सात जन्म में भी वैसा नहीं बन सकेंगे। वे पूंजीपति के दलाल हैं, आदि आदि।" जैसा उनका नारा है, कह गये।

मैंने कहा—"हमारे देश के लिये जो काम गान्धीजी और जवाहर लाल ने किया है, उसकी तुलना में स्तालिन ने कुछ भी नहीं किया है। वे अपने देश के लिये कर सकते हैं, परन्तु हिन्दुस्तान के लिये उन्होंने क्या किया है? आज आप जो यहाँ जेल आये हैं, गान्धीजी के कथन पर, न कि स्तालिन महाशय के कथन पर। अतएव मेरे समक्ष स्तालिन कोई अहमियत नहीं रखते। उन्होंने अपने देश की उन्नति की होगी, अपने जन की सेवा की होगी। परन्तु, हमारे हिन्दुस्तान के लिये उन्होंने कुछ भी नहीं किया है। अपने देश के नेताओं की तुलना में तो उन्हें हम कुछ भी नहीं पाते हैं, न मानते ही हैं। गान्धीजी ने और जवाहर लाल ने देश के लिये त्याग किया है; जाति में नवचेतना फूँकी है, प्रेरणा दी है। भारत को स्वाधीनता दिलाने के लिये स्तालिन ने क्या सेवा की है, हमारे देश की?

कम्यु० भाई—"अपने देश से उन्होंने पूँजीवाद का उन्मूलन किया है। उसी तरह हमें भी करना चाहिये।"

मैं—"तो कीजिये न ! ठीक तो है। परन्तु करेंगे किसके बल पर ? स्तालिन के बल पर करेंगे ? यदि ऐसा है तो समझ लीजिये जनता आपका साथ कदापि नहीं देगी। वह तो गान्धीजी और जवाहर लाल के साथ है।

बड़ी गरमागरमी बहस हुई किन्तु, स्तालिन के सिवा उनके सामने अन्य कोई भगवान नहीं आया। मैंने देखा, व्यर्थ का तर्क करना ठीक नहीं। किन्तु, उनके प्रति आन्तरिकता हृदय में कस गई। गान्धी, जवाहर गलती कर सकते हैं। मानता हूँ। उनकी आलोचना-समालोचना भी की जा सकती है। किन्तु, हिन्दुस्तान के लिये सर्वे-सर्वा स्तालिन हैं; ऐसा सोचना ही मूर्खता की निशानी है। मैं तो प्रथम गान्धी, जवाहर की ही जय बोलने वाला हूँ। स्तालिन की नहीं। अवश्य, गलती करने पर अपने नेताओं की स्वयम् आलोचना भी करूँगा।

इतना होते हुए भी मैंने उनके यहाँ का हिन्दी पढ़ाने का काम बन्द नहीं किया। हाँ, उनके साथ अब राजनीतिक चर्चा नहीं करता था।

यहाँ इस समय मैं नजरबन्द हूँ। पटना कैंप जेल में मैं सी० क्लास का बन्दी था। लेकिन मैं वहाँ खुश था, यहाँ नहीं। इसके कई कारण हैं। प्रथम तो यह कि मैं यहाँ आते ही बवासीर का शिकार हो गया। दूसरे मुझे जेल वास्तव में जेल-सा लगने लगा था। तीसरे राजनैतिक कैदियों की आपसी खींचातानी मुझे

कतई पसन्द नहीं आती थी।

ब्रह्मपुर जेल में पहुँचने के बाद एक बड़ी ही दर्दनाक घटना सामने आई। वह थी श्री लक्ष्मण नायक की फाँसी। वह युवक कोरापुट के निवासी था। उन पर कितने ही आदमियों को मारने और सरकारी दफ्तर जलाने के अभियोग लगाए गये थे। साथ ही ऐसे काम करनेवालों का वे अगुवा थे। मुकदमा चला––फाँसी की सजा हुई। किन्तु, उस वीर पर भय का कोई चिह्न दृष्टिगत नहीं हुआ।

जिस दिन फाँसी पर उन्हें लटकाया जाना था, उससे एक दिन पूर्व ही उन्हें ज्ञात करा दिया गया था। उनको ईश्वर आराधना करने के लिये भी कहा गया था। उत्तर में उन्होंने कहा था, कि मैंने जो कुछ भी किया है, वह मातृभूमि की सेवा समझ कर किया है। इससे बढ़कर अन्य कोई ईश्वरोपसना नहीं हो सकती। निश्चित दूसरे दिन ४ बजे प्रातः से ही अन्य बन्दियों के घरों में ताला लगा दिया गया था। लक्ष्मण नायक के मुख पर काला कपड़ा बाँध कर, दोनों हाथ पीछे बाँध दिये गये थे। इस पर भी वह निर्भीक, निडर, शेर-सा बन्दे मातरम् का नारा लगाते जा रहा था। आखिरी शब्द जो उसके मुख से निकला वह था, बन्दे! और सदा के लिये उसने मुख बन्द कर लिया।

हम कुछ बन्दियों ने उस वीर को जाते समय अपनी खिड़की से देखा था। ४–५ हजार बन्दियों के हृदय से एक प्रकार की टीस निकल गई। और लक्ष्मण नायक सदा के लिये गायब हो गया!

एक दिन की बात है। शाम के समय हम बाहर बैठे थे। हम पहले ही होशियार कर दिये गये थे कि जब ऊपर हवाई जहाज देखें तो खाइ में छिप जायें। लेकिन उस दिन हमने जहाज को देखा, और भीषण तड़तड़ाहट भी सुनी। ऐसा लगा मानो हमारे ही सिर पर बम पड़ा। मैं एक टट्टी की ओट में जा छिपा। बम जेल की प्राचीर के समीप ही गिरा था, किंतु, प्राचीर बच गई थी।

यह बड़ा भयानक दृश्य था। सबेरे पता लगा कि जापानी जहाज कल आया था, और बम तथा कुछ कागज फेंक कर चला गया है।

अभी कुछ दिन बीते होंगे कि बनमाली बाबू बीमार पड़ गये। उनकी कमर के दर्द ने भयानक रूप धारण कर लिया। न तो वे उठ सकते थे, और न बैठ। डाक्टर से कहा जाता तो उत्तर मिलता—"वह ऐसा ही होता है, मुझे भी ऐसा हुआ था।" कितना भी मिक्सचर पानी पिलाया जाता, कुछ भी फायदा न होता। वे अशक्त हो गये। बाहर अस्पताल में ले जाने की बातें हुई। लेकिन सिविल सर्जन अनुमति ही नहीं देता था। यहाँ उनकी चिकित्सा ठीक हो नहीं पाती थी। मन में आया अगर वे यहीं रहें तो बच नहीं सकते। मैं स्वयं दवाखाने में था। जो भी देखता, बनमाली बाबू को बाहर अस्पताल में भेजने की राय देता। जेल सुपरिन्टेन्डेन्ट तो राजी हो भी गया लेकिन सिविल सर्जन राजी हो तब न।

सौभाग्य की बात—सर्जन बदल गया। उसके स्थान

पर आये डा० फिरोज अली। ये अति सज्जन साबित हुए। जिस दिन आये, उसी दिन बाहर अस्पताल में ले जाने की अनुमति दे दी, और यह विश्वास दिलाया कि वहाँ मैं सदा देख-भाल कर सकूंगा।

बनमाली बाबू चले आये। उनको स्ट्रेचर पर ले जाया गया। मेरे लिये यह कारुणिक दृश्य था। मैं अपने को अब अकेला अनुभव करने लगा। उनके रहते मैं अपने को बलवान समझता था। वे शाम सबेरे बैठकर मुझसे दिन भर के अगले पिछले कार्यों की चर्चा करते थे। मेरे दिल की अशान्ति में वे शान्तिमय अनुराग का काम करते थे।

दूसरे दिन सबेरे जब मैंने डाक्टर से पूछा, तो उन्होंने बतलाया—"यहाँ तो वे २–४ दिन के ही मेहमान थे। मैंने कल शाम को फिर देखा है। थोड़ा सुधार नजर आता है। मुझे लगता है कि अब डर का कोई कारण नहीं है। उनके घर पर खबर दिया है, भाई और घरवाली आ सकती हैं।"

मैं—"हाँ, घरवाली रहेगी तो सेवा के लिये सुविधा रहेगी। हम लोग हमेशा आपका अहसान मानेंगे, डाक्टर साहब!"

डाक्टर—"लेकिन आपका क्या हाल है?"

मैं—"वैसे ही, यथापूर्व!"

डाक्टर ने कम्पाउण्डर को हेडेन्सा लगा देने के लिये कहा।

इसका व्यवहार भी १५–२० दिन हुआ, लेकिन रक्त

की गमन मात्रा में बढ़ती दीखी, कमती नहीं। मैं भी घबरा गया। मेरा १३ पाउण्ड वजन कम हो गया था। किसी से बातें करने में मुझे विरक्ति लगती। मैं अपने वार्ड में चला गया। बाद में सुपरिन्टेन्डेन्ट से मिलकर कहा।

वे भी मौजी आदमी थे। और थे अल्ला के बन्दे। उन्होंने दिल्ली से अजमल खां के पास से हकीमी दवा मँगाने का वचन दिया और कहा—एक दिन की खुराक से सारा मर्ज काफूर हो जावेगा।

जेल में अँग्रेजों की हार और जापानियों की जीत हमको आनन्द दिया करती थी। सुभाष बोष जापान में हैं। उनकी सहायता जापानी करते हैं। हमारी हिन्दुस्तानी फौज ने भी उन जापानी सेना के साथ मिल कर वर्मा से अँग्रेजों को मार कर भगा दिया है। उनके बम्बार्ड से अंग्रेज सेना के पैर उखड़ गये, और वह भाग खड़ी हुई।

हमलोगों को चर्चिल का यह कथन बड़ा मजा देता था, कि "हमारी फौजें बड़ी ही वीरता और दक्षता के साथ पीछे हट आई हैं।" भागना हमारे यहाँ कायरता का चिन्ह है, परन्तु अंग्रेजी राज्य में यह वीरता तथा बुद्धिमानी का परिचायक है।

धन्य है अंग्रेजों की वीरता और बुद्धिमानी जिस पर कि हजार हजार बार कुर्बान होने को जी चाहता है।

जेल सुपरिन्टेन्डेन्ट ने जो हकीमी दवा दिल्ली से मँगवाई थी, आ गई। हमको कहा गया—दिन भर कुछ नहीं खाना है। सबेरे केवल जलेबी ख़ाना पड़ेगा, लेकिन पानी नहीं पीना।

पानी पियो तो घण्टे बाद पियो। और दोपहर को केवल बेसन की रोटी और घी जितना खा सको, खाओ।

मैं——यह बढ़िया दवा है। ऐसी दवा तो वर्षों बे-पानी के की जा सकती है।

सुपरि०——यह बादशाही दवा है। कोई ऐरे-गैरे-पच-कल्याणी की थोड़ी ही है।

मैं——इस दवा के अनुपान की व्यवस्था भी तो आपको ही करना होगा।

सुपरि०——सो तो मैं कर दूंगा। जलेबी और घी मैं बाहर से मँगवा दूंगा, बेसन तो रसोई में ही होगा।

जेल की रसोई का सारा प्रबन्ध कैदियों के हाथ में रहता था। जेल के बाहर से एक कन्ट्राक्टर सामान लाता था, और भोजन की जो चीजें मँगाओ, वह ला देता। जेल वाले उसकी निगरानी रखते थे। इसलिये चीजें मिल गईं। वर्ना कहाँ का घी, और कहाँ की जलेबियाँ। घी, जलेबी, और बेसन सब मिल गया। इस दवा का सेवन हम दो आदमियों ने किया। एक तो पूज्य आचार्य हरिहर दास और मैं खुद। यह दवा भी सुनने में जितनी मधुर लगती है, ठीक उपयोग में वह मधुर नहीं है। बेसन की रोटियाँ और घी, तीसरी वस्तु थी नहीं। दो-चार कौर के बाद ही रोटियाँ मुख में बाहर आने के लिये अँगड़ाई लेने लगतीं।

फिर भी यह साधना एक ही दिन की थी, किसी तरह पूरी हो गई। उससे आराम तो हुआ, परन्तु ३–४ मास के

बाद मुझे उस बीमारी ने फिर दबोचा। मैंने जेल सुपरिन्टेन्डेन्ट से कहा। वह बोले––वह दवा तो एक ही बार के सेवन की विधि रखती है। अब उसका काम खत्म। वह दवा तो शर्तिया है। बात क्या है?

मैं––मेरा बवासीर भी तो शर्तिया है, जो किसी की भी नहीं सुनता।

बनमाली बाबू की खबर अब राशन वाला भी ला देता। आशंका बढ़ती जाती थी। कारण, जेल में यह प्रथा प्रचलित थी, कि जेल से बाहर उसी को ले जाया जाता है, जो जल्दी ही इस दुनियाँ से भी बिस्तर गोल करने की तैयारी कर चुका होता है। इस प्रकार अभी हाल में एक कैदी जा चुका था।

जेल के सभी साथी भयभीत हो यह खबर जानना चाहते थे। कारण, मृत्य की सम्भावना बड़ी डरावनी और भयानक होती है यहाँ तक कि उसका नाम तक कोई सुनना नहीं चाहता। मैं भी सुनने को तैयार नहीं था। यह तो विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का ही काम था कि मृत्यु को श्याम के समान माना था। हालाँकि वह गन्तव्य पथ अनिवार्य है। लेकिन बल चलते कोई तैयार नहीं होता। यह चली आती सनातन महाजन प्रथा है।

श्री रामसुख जी ब्रह्मपुर से आते थे। उनसे सामान मिल जाया करता। अवश्य, रसद लाने वाला अपना खर्चा निकाल लेता था। लेकिन वे तो नियमित आते, जेल कार्यालय में दे जाते। इस प्रकार से कितनी पुस्तकें भी मिलीं, इस काम के लिये कुछ रुपये भी जमा कर जाते।

जेल में मैंने सोचा कि रोज काम में आने वाले हिन्दी के कम शब्दों का संग्रह किया जाय। जिससे लोगों को हिन्दी सीखने में आसान हो जाय। पता लगा कि अँग्रेजी में ऐसी पुस्तक है। और पाँच सौ शब्दों के द्वारा अँग्रेजी भाषा सीखी जा सकती है। कितना बड़ा उनका उद्यम है। अँग्रेजी भाषा के पास धन-बल है, जन-बल है और राज-बल भी है। फिर लोग आसान से आसान बनाने में उसे तुले हुए हैं। और एक हम हैं कि इस ओर चिन्ता भी नहीं करते।

मैंने शब्द संग्रह किया, काम में लगने लायक क्रियाएँ छाँटी। संज्ञा, सर्वनाम और उसमें लगने लायक विशेषण भी लिये तथा पुस्तक लिखने के काम में लग गया। अभी तक मैंने कुछ कहानियाँ और उपन्यास ही लिखे थे। कारण, उनमें मन लगता था। जी-बहलाव के लिये उपन्यास और कहानियाँ लिखना भी उत्तम साधन है। वह भी तो जाति-जीवन का एक अँग है।

लेकिन यह 'बाबा का सिर', बीमारी तो नाकेदम किये थी। किसी कार्य में मन नहीं लगता था। मैं सन् १९३२ में पटना कैम्प जेल में तृतीय श्रेणी का बन्दी था। वहाँ मेरा वजन बढ़ा था। यहाँ मैं राजनैतिक नजरबन्दी हूँ। सारा खान-पान और पढ़ने-लिखने की सुविधा है; फिर भी मेरा वजन १४ पाउण्ड कम हो गया है। मेरी बीमारी जेल में प्रसिद्ध थी। जिधर जाता, प्रथम बीमारी की राजी-खुशी की चर्चा की जाती।

जेल जीवन में कई बातें बड़ी ही मजेदार होती हैं। हाथ देख कर भाग्य की परीक्षा का विषय भी एक है। कई आदमी हाथ देखते, हनुमान-वाहक चक्र से शुभ दिन जानते। मेरे हाथ को देख कर कितनों ने भविष्यवाणियाँ की होंगी। जितने लोग भाग्य की बातें करते, उनमें से श्री नित्यानन्द कानूनगो की बातें आज याद आतीं हैं। कारण, उनका भावी-भाग्य-वक्तव्य आज सफल हुआ है। एक बात जो उन्होंने कही थी, कि––"तुम्हारी शादी होगी अवश्य, कोई रोक नहीं सकता। और वह भी होगी स्थान से दक्षिण।" दूसरी बात जो उन्होंने कही थी, कि––"जो कार्य करते हो, उसमें और गति उत्पन्न होगी, तथा नवीनता उसमें आयेगी।"

आज दोनों बातें सत्य निकली है। मेरी शादी भी हो गई है, और प्रेस का कार्य प्रचार कार्य में आ जुटा है। इस के बारे में आगे यथा स्थान वर्णन आयेगा।

शादी के सम्बन्ध में मौखिक चर्चा करने वालों में श्रीयुत विश्वनाथ दास भी थे। वे सदा कहते, तुम जेल से बाहर जाकर प्रथम शादी कर लो। एक दिन मैंने कहा––शादी तो आपके ब्रह्मपुर में ही होगी, और जमीन आपको देनी होगी। घर भी चाहिये। यह कौतुक था, या अन्तर का सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की भविष्यवाणी, मैं कह नहीं सकता? जेल में मैं १९४५ तक रहा। ४५ में छूटा भी तो साथ में एक शर्त लगा दी गई कि श्री अनसूया प्रसाद पाठक, पुत्र राम शंकर पाठक उत्कल में नहीं रह सकते।

इच्छापुरम्

मैं इस शर्त को पालन करने के लिये तैयार नहीं था। कटक आया। दूसरे ही दिन फिर पकड़ लिया गया। पंडित लिंगराज मिश्र ने जेल में मुलाकात की। बोले—जेल में रहोगे तो बीमारी बढ़ती जायगी। तुम उत्कल की सीमा में इच्छापुरम् में भी रह कर काम देख सकते हो।

इसे मैं मान गया। जेल से जल्दी ही छोड़ दिया गया और ब्रह्मपुर से १० मील की दूरी पर इच्छापुर में आकर एक होटल में रुक गया। ५ रु० मासिक भाड़ा देना पड़ता था। भोजन भी उसी होटल में करता था।

यह स्थान मुझे भा गया। पूर्व-दक्षिण में उद्यान खण्ड, पश्चिम और उत्तर में सुन्दर पहाड़ियाँ नजर आती थीं। मैं रोज स्टेशन जाता। कभी-कभी पहाड़ियों पर जा कर घण्टों बैठ कर सोचता—काश! भगवान मुझमें भी हनुमान जैसी शक्ति भर दे तो मैं उड़ता और अंग्रेजों को मार-मार कर बाहर खदेड़ देता। थोड़ी देर तक राम-नाम जपता, सिद्धासन लगाकर ध्यान करता। उस शान्ति में मन प्रसन्न रहता। सोचता, कुछ लिखूँ-पढ़ूँ।

श्री रामसुख जी पास थे। ब्रह्मपुर से वे अतरे दिन पहुँच जाते। कुछ पुस्तकें तथा नीबू भी साथ लेते आते। तीन फल उनके अति प्रिय हैं। एक केला, दूसरा नारियल, और तीसरा

है कमला-सन्तरा।

मुझसे पहले बनमाली बाबू छूट गये थे। परन्तु अब वह अच्छे हैं। उनका यह दूसरा जन्म ही समझना चाहिये। जो हो, उन्होंने आकर राष्ट्रभाषा के काम को फिर से सम्भाल लिया था। मैं जब इच्छापुर आया तो वे प्रति माह रुपये लेकर मेरे पास जरूर आते।

मैं यहाँ अकेले था। अतः कुछ लिखता रहता। रामायण की पोथी पास थी, वही पढ़ता। लेकिन, पढ़ने-लिखने की अपेक्षा मुझे सोचने का अवकाश अधिक मिलता। एक दिन एक कहानी लिखते समय मेरे मन में आया, लोग कहानी क्यों लिखते हैं? कहानी लिखने का उद्देश्य क्या होता है?

अन्तरात्मा से उत्तर मिला—कहानी का उद्देश्य होता है, कहना! जो कुछ कहा जाय, वही कहानी है। कहानी कहना अथवा लिखना कथा लेखक का काम होता है। आगे चल कर उसका उद्देश्य और आदर्श तो पाठकगण बतायेंगे कि उससे हमें मिला क्या, अथवा क्या मिल सकता है? मन में यह तथ्य आया, और उसका समाधान भी हो गया। किन्तु, तसल्ली के लिये तथा आत्म-बोध के लिये तो किसी प्रसिद्ध व्यक्ति की वाणी चाहिये।

मैं यहाँ खाली था। दिन भर कुछ-न-कुछ लिखता-पढ़ता। शाम को घूमने जाता। वैसे, था तो यह भी एक प्रकार का जेल ही, परन्तु इस बन्दीशाला में इतना अन्तर था कि मैं यहाँ मनचाहा घूम सकता था। सृष्टि का सौंदर्य-दर्शन का

सौभाग्य लूट सकता था।

इच्छापुर में मैं अकेला था। वहाँ जो भी परिचित मिल जाते उससे बातें करने में बहुत आनन्द आता था। एक दिन साँयकाल मैंने सुना कि श्रीयुक्त हरेकृष्ण महताब मद्रास-मेल से इसी रास्ते होकर कोरापुट जा रहे हैं। यह सुन उनसे मिलने की इच्छा उठी। वहाँ होटल में जो दो-चार परिचित ओड़िया सज्जन थे, उनसे मैंने इसकी चर्चा की और कहा कि महताब जी कल सबेरे मेल से जा रहे हैं। स्टेशन पर उनका स्वागत करना चाहिये।

सन् १९४५ का समय था। महताब बाबू अहमदनगर जेल से छूट चुके थे, और कोरापुट की हालत देखने जा रहे थे। जब कि कोरापुट के लिये सरकार ने यह प्रतिबन्ध लगा रखा था कि कोई भी नेता वहाँ बिना अनुमति लिये नहीं जा सकता। महताब जी जा रहे हैं, अतः उनको स्टेशन पर फूल-माला पहिनाना चाहिये और स्वागत करना चाहिये। इस प्रस्ताव का अधिकांश ने स्वागत किया।

उक्त काम उचित था। इस कथन का किसी ने विरोध नहीं किया। दूसरे दिन प्रातः इच्छापुर स्टेशन पर महताब जी को माला पहिनाई गई।

महताब बाबू बड़े साहसी व्यक्ति हैं। उनकी चिन्ता और अथाह साहस का उल्लेख मैंने पहले ही कर दिया है। इस दिन से मैं प्रायः स्टेशन जाता, केवल इस लालसा में कि कोई परिचित मिल जावेगा।

महायुद्ध का समय है। प्रत्येक गाड़ी में ४–६ डब्बे फौजी सिपाहियों के अवश्य रहते। वे इस प्रकार चलते मानो पृथ्वी को रौंद कर चलने का अधिकार केवल उन्हीं लोगों को है। इच्छापुर स्टेशन मेरे भ्रमण का केंद्र-स्थल है। मैं परिचितों को खोजता, गाड़ी आती, व्यापारी चिल्लाते––कब्रूकाईलु कब्रुकाईलु (नारियल) जीड़ी पप्पू, जीड़ी पप्पू (काजू) पालु पेरगू, पालु पेरगू (दूध, दही)। लेकिन जब वे उनका अनुवाद करके बोलते तो जीवनहीन-सा गरम कीर, गरम कीर कहते। फिर भी मजा तो लगता ही। यह भी तो साहित्य था।

स्टेशन के किनारे-किनारे ५-६ पीपल के पेड़ हैं। उसकी छाया में स्टेशन से लगे लोहे की छड़ों से घिरा इच्छापुर स्टेशन। उधर उस पार खानाबदोश व्यक्ति हैं। उनमें भी उड़िया थे, हिन्दुस्तानी थे, ईरानियाँ और तेलगू भी और तामिल भी थे।

उसमें बालक-बालिकाएँ थीं, युवक-युवतियाँ थीं, प्रौढ़ और वृद्ध थे। सभी का जीवन एक लक्ष्य, एक उद्देश्य और एक ही प्रकार की कामना करने वाले भावों से परिपूर्ण था।

मैं इनको रोज देखता। पर आज एक बालिका पर नजर जम गई। उम्र शायद १३–१४ के बीच होगी। कटि के नीचे एक घाँघरिया थी, ऊपर खुला सफाचट, मुख मैला था। ओंठ सूखे-से थे। हृदय में एक प्रकार की उमँगपूर्ण तरंग-सी चली आ रही थी। वह आगमन क्या है? जिसके आगमन से कुरूपता भी सौन्दर्यमयी हो जाती है। वह एक

ऐसा सौन्दर्य था, मानो सुदूर उदधि के बीच में बाल-रवि का कलेवर धीरे-धीरे मन्थर गति से आ रहा हो। वह दृश्य मुझे अच्छा लगा। मैं बड़ी देर तक लोक नजरों को बचाये उसे देखता रहा। वह अनुपम अनूठा और अछूता सौन्दर्य था और था मनोहारी।

मैं स्टेशन प्लेटफार्म पर चला आया। वहीं चहल-कदमी करने लगा। हठात् एक फौजी डब्बे के समीप आँखें जम गई, देखा कि एक फौजी युवक ने एक युवती के सीने पर हाथ लगा दिया है। वह युवती हँसी और उसी डब्बे में चढ़ गई। सभी आते-जाते यात्रियों की नजर उधर ही थी। आधे घण्टे तक गाड़ी खड़ी रही। गाड़ी चलने लगी तो युवती चलती गाड़ी से कूद पड़ी। पहले जो केश और वस्त्र यथा स्थान सजे थे, अब अस्त-व्यस्त हो अपने लुटने पर लजा रहे थे। युवती नीची निगाहें किये मुस्कराने का बहाना किये चली जा रही थी। हाथ की मुट्ठी में रुपयों के नोट थे। कितने रुपये थे, पता नहीं।

सभी की नजरें उस पर थी। परन्तु, प्रश्न करने का साहस किसी को न हुआ। वह चली गई। मुझे लज्जा लगी। इस प्रकार के जीवन के प्रति घृणा, उफान भरने लगी। ऐसा लगा कि इस हिन्दुस्तान को जल्दी ही बंगोपसागर में लीन हो जाना चाहिये। और ये फौजें, जो देश जाति की रक्षा के लिये हैं, किसकी रक्षा करने जाते हैं? गुलामी की या स्वराज्य की? इन्हें तो नष्ट-भ्रष्ट हो जाना चाहिये।

उस रात मुझे नींद न आई। कुछ सोच नहीं पाया। वही हनुमानजी की शक्ति वाली बात की कामना करने लगा।

जो स्थान मुझे सौन्दर्ययुक्त लगता था, अब वही मुझे विचित्र-सा लगने लगा। मुझे लगा कि अब यहाँ नहीं रहना चाहिये। पर जाऊँ तो, जाऊँ कहाँ?

६ मास बीत गये। एक रोज एक युवती आई और मेरे करीब बैठ गई। मैं लिख रहा था, वह आती तो अक्सर थी, लेकिन बाहर बरामदे में ही बैठती थी। परन्तु, आज चौखट में आ बैठी, और आधी हिन्दी आधी ओड़िया में बोली—हमारा घर पास है, आओ। फिर दबी जबान से बोली—(आनन्दम् कलिगिस्तानु)। इतना कह कर वह चली गई। उसी समय होटल का मालिक आया। मैंने पूछा, तो बताया कि यह खानगी है।

मैंने यह स्थान छोड़ने की पक्की कल्पना कर ली। श्री रामसुख जी को तथा कटक बनमाली बाबू को पत्र लिख कर बुलाया, और कलकत्ते चला गया। मैं बच गया।

कलकत्ते में रहने लगा। इस समय पूर्व भारत राष्ट्र-भाषा प्रचार सभा से उत्कल प्रांतीय राष्ट्रभाषा प्रचार सभा को तीन हजार रुपये वार्षिक सहायता मिलती थी। यहाँ का आन्दोलन समाप्ति पर था। सभी अपने अपने व्यापार में लगे थे। श्री विश्वनाथ उपाध्याय प्रचार सभा के कार्यकर्त्ता थे। ये उत्साही थे, परन्तु उनको अंग्रेजी बोलने का मोह था। कोई अंग्रेजी जाननेवाला मिल जाता तो हमेशा अंग्रेजी

में ही बोलते। मुझे यह अच्छा न लगता था। यही स्वराज्य का नमूना है? ऐसे सवाल मेरे मन में बराबर उठते।

सभा का वार्षिकोत्सव मनाने का आयोजन होने लगा। मैंने कलकत्ते से ही श्री वसन्तलाल जी के परामर्श से श्री आनन्दी लाल पोद्दार को सभापति पद के लिये अनुरोध किया। उन्होंने मेरा अनुरोध स्वीकार किया, सभापति बने। सभा के जन्म के साथ मेरा सम्बन्ध है। इस प्रकार के उत्सवों में मैं सदा मेजबान होता आया हूँ। यह पहला अवसर है जब कि मैं इससे मजबूरन दूर हूँ। मुझे विछोह से दुख हुआ। मैंने कभी भी यह कल्पना नहीं की थी कि मुझे सभा के वार्षिक जलसे से पृथक रहना पड़ेगा। मैंने अपनी मजबूरी सभा में पढ़ने के लिये लिख कर भेजी थी। वह जलसे में उपस्थित जन-समुदाय के दिल को छू सकी थी। मुझे पता लगा था कि उस सम्बाद से अनेकों की आँखें भीग गई थीं।

पुनः कटक वापस

सन् १९४६ आया। देश में कांग्रेस सरकारें बनीं। उत्कल में भी डा० हरेकृष्ण महताब के मुख्य मन्त्रित्व में सरकार बनी। इसमें श्री नवकृष्ण चौधरी थे राजस्व मन्त्री, और शिक्षा मन्त्री पण्डित लिंगराज मिश्र। अब मैं भी कटक वापस आ गया था। कारण, मेरे ऊपर से ब्रिटिश प्रतिबन्ध हट गया था। लोगों से मिला। स्वामीजी से मिला, उनका स्नेह कारुणिक था। बड़े खुश हुए। ४ वर्ष के काम का वर्णन तथा पुराना दुखद इतिहास आपने कह डाला।

सभा इस समय चाँदनी चौक में, पुरी इलेक्ट्रिक कम्पनी के साथ थी। मकान अच्छा है। मैंने पहले ही इसे देखा था, परन्तु, पा नहीं सका था। बाद में स्वामीजी की कृपा से मिल गया है।

राष्ट्रभाषा प्रेस

कटक आया तो राष्ट्रभाषा-पत्र को फिर से चालू करने की बात सोची। कुछ समय तक समाज प्रेस में छपवाया। परन्तु, प्रेस समय पर काम नहीं दे पाता था। उनके पास टाइप भी पर्याप्त नहीं थे। अतः कुछ टाइप मँगवा कर खुद छापने का विचार किया। प्रयाग से श्री घनश्यामदासजी थिरानी ने कुछ टाइप भेजवाया। कम्पोजिंग कराते और अन्य अन्य प्रेसों में उसे छपवाते। लेकिन असुविधाओं का निवारण उससे भी नहीं हुआ। प्रेस लगाने की बात मन में आई। एक हैण्ड-प्रेस मशीन श्री राजकृष्ण बाबू का था। उस पर दृष्टि पड़ी तो, ले आया।

प्रेस आ गया। इसके पहले से ही श्री गोपीनाथ साहू हिन्दी पढ़ने आया करते थे। श्री विप्रचरण साहू तो मेरे पास था ही, छात्र-जीवन में।

श्री गोपीनाथ जी कम्पोजिंग का कार्य जानते थे। मैंने उनको आने के लिये कहा। पैसे का लेन-देन तो था नहीं। पैसे थे भी नहीं। वे चाहते भी न थे। 'राष्ट्रभाषा-पत्र' निकालना है, बस यही एकमात्र उद्देश्य था। वे भी आ गये। अब हाथ-प्रेस चलने लगा। श्री विप्रचरण मशीन चलाता, गोपीनाथ जी स्याही लगाते और मैं कागज निकालता था। यह क्रम चला, परन्तु, इससे भी असुविधा दूर न हुई। कागज लाना, पानी में

भिगोकर लकड़ी के पट्टों से दाबना, १२–१३ घण्टे के बाद छापना, यह सब सतयुगी काम था।

सभा की चार पुस्तकें स्कूल में चलती थीं। उनकी छपाई भी कलकत्ते में होती थी। इन सारी असुविधाओं को दूर करने का विचार मन में आया। थोड़ी कोशिश की तो 'चाँदलर प्राइज ट्रेडिल' ६ हजार में आ गई। अब पत्र की छपाई सुन्दर होने लगी। अवश्य, पैर से चलाना पड़ता था। गति भी अधिक नहीं थी। कुछ दिन के बाद बिजली का मोटर आ गया। अब ट्रेडिल इलेक्ट्रिक मोटर से चलने लगी। हाथ-प्रेस की लीला तो पुरानी थी ही। इस काम में विप्रचरण चतुर निकला।

बाद में इससे भी असंतोष होने लगा। गोपीनाथ जी की इच्छा हमेशा यही रहती थी कि एक बड़ा प्रेस लगाया जाय। परन्तु, रुपये कहाँ से मिले ? नगद नारायण के बिना काम कभी नहीं चलता।

राष्ट्रभाषा प्रचार सभा के लिये जमीन

उत्कल प्रांतीय राष्ट्रभाषा प्रचार सभा के लिये जमीन चाहिये—यह बात मैंने पण्डित लिंगराज मिश्र से कह रखी थी। वे ही आजकल सभा के मन्त्री थे। आपने कहा—श्री कृष्णचन्द्र नायक खासमाहाल के तहसीलदार हैं। उनके पास जाओ, वे बतलायेंगे।

खासमाहाल की जमीन कहाँ है? जानने, मैं दौड़ा। उस समय मेरे पास साइकिल थी, अतः काफी दौड़ सकता था। जिस प्रकार हनुमान ने कहा है—रामकाज कीन्हें बिना, मोंहि कहाँ विश्राम—यही मैं कह सकता हूँ कि सभा के जमीन प्राप्त किये बिना मुझे भी विश्राम न था। मैं श्री कृष्णचन्द्र नायक के पास गया। एक घण्टा इन्तजार किया। कारण, नायक जी ऊपर पूजा कर रहे थे। पूजा समाप्त कर के आये तो मैंने अपना परिचय दिया। पण्डित लिंगराज जी ने भेजा है, उन्हें बतलाया। वह थोड़ी देर चुप रहे, पश्चात बोले—११ बजे मेरे नीमचौड़ी वाले खासमाहाल के कार्यालय में आओ। आने से आपको नक्शा देखकर मैं बतला दूंगा कि जमीन कहाँ खाली है।

मैं निश्चित समय के पूर्व ही, अर्थात् पौने-ग्यारह बजे ही उनके कार्यालय पहुँच गया। वह अभी-अभी आये थे, और कागज पर राम-राम लिखते थे। मन प्रसन्न, हाथी जैसी आँखों

से मुझे देखा और उन्हीं आँखों से बैठने का इशारा भी कर दिया।

कुछ समय पश्चात खाता खोले। देख कर बोले—जमीन तो नहीं है। हाँ, सरकार दे दे तो एक जमीन है। जंगल है, शहर से बाहर है, किंतु है मौके की जमीन। फिर लखन बाबू को पुकारा। लखन बाबू सरकारी अमीन थे, आये। कृष्ण बाबू ने उनसे कहा—इस जमीन के चार नक्शे बना लाओ। इसके लिये आपको पारिश्रमिक मिल जावेगा। मुझसे बोले—४-५ रुपये दे दीजियेगा। प्रार्थना-पत्र मैं लिखे देता हूँ। टाइप करवाकर सही करके मुझे दे जाइयेगा।

मैं—इस जमीन के प्रार्थना-पत्र में स्वामी विचित्रानन्द दास ही हस्ताक्षर करेंगे। कारण, वे ही सभापति हैं।

प्रार्थना-पत्र लेकर टाइप कराया, और स्वामीजी से हस्ताक्षर करवा कर दूसरे दिन कृष्ण बाबू को दे आया।

वे बोले—इस पर कलेक्टर की रिपोर्ट लिख कर रेविन्यू बोर्ड तथा सरकार के पास जायेगा। वहाँ देखना है, पर अभी नहीं। मैं बताऊँगा। मैं पहले जमीन की तैयारी कर दूँ। इस जमीन के ग्राहक भी कई हैं।

मैं अब हाजिरी देने लगा। पंद्रह दिन के अन्दर ही उस पर कलेक्टर के हस्ताक्षर मय शिफारिश के हो गया। नायक बाबू ने कहा—अगर परिचय हो तो रेविन्यू बोर्ड के कमिश्नर से मिल लो। बहुत सख्त आदमी है।

मैं—उनकी लडकी को तो मैं पढाता हूँ।

नायक बाबू——तब ठीक है, काम बन जायेगा।

मैं एक दिन श्री राजकृष्ण बाबू को लेकर कमिश्नर साहब से मिला। कमिश्नर उस समय श्री नीलमणि जी सेनापति थे। हम दोनों गये। अपनी आने की इच्छा जाहिर की। राजकृष्ण बाबू ने समझाया।

कमिश्नर साहब ने कहा——वहाँ गौ-माँस की दुकान है। झगड़ा होगा। अतः हिन्दी के लिये वह जमीन तो नहीं मिलेगी।

मैं——मांस बिके, हमारी उसमें कुछ भी आपत्ति नहीं होगी।

साहब——तो मैं देखूँगा, अगर आप लोगों को एतराज नहीं है, तो काम आसान हो जायगा।

यहाँ से आशा लेकर लौटे। फाइल दौड़ने लगी। मैं उसके पीछे-पीछे राम बाण की तरह दौड़ रहा था। सेक्रेटरी के पास गई। सेक्रेटरी ने चीफ इन्जीनियर के पास भेजा। इन्जीनियर ने घर वाले इन्जीनियर के पास भेजा। इस बीच फिर ६–७ माह बीत गये। मैंने श्री राधाकृष्ण विश्वास राय जी से फिर कहा——जमीन की फाइल अभी आई नहीं?

आपने तुरन्त फोन उठाया तथा इन्जीनियर को बुला कर कहा——राष्ट्रभाषा की जमीन वाली फाइल ले कर जल्दी आओ।

यह था मन्त्री जी का आदेश। मुझसे कहा——शाम को आइये। मैं इसका निबटारा आज ही कर दूँगा। जमीन तो राष्ट्रभाषा को जरूर मिलेगी, इसमें शक नहीं।

मैं शाम को फिर गया। विश्वास रायजी ने कहा—चीफ इन्जीनियर कहता है, कि उस जमीन पर सरकारी घर बनेंगे। अतः नहीं देना चाहिये। मैंने उस पर लिख दिया है कि राष्ट्र-भाषा का काम भी सरकारी जैसा है। अतएव अगर सरकार के ८ घर बनने हों तो ७ बनें। एक के लिये राष्ट्रभाषा को जमीन दी जाय।

यह बड़ा तगड़ा मन्तव्य था। चीफ इन्जीनियर की इच्छा तो देने की न थी।

उस समय पी० डबल्यू० डी० के मन्त्री श्री राधाकृष्ण विश्वास राय थे। इस सम्बन्ध में उनका साहस प्रसंशनीय था। आदेश देकर उन्होंने फिर फाइल मँगवाया, लेकिन फाइल तब तक खो चुकी थी। यह था नौकरशाही का, लाल फीते का विधान। अगर आज आई० सी० एस० आफिसर न होते तो जितने भी आफिसर हैं, सभी उसी प्रकार चलते, जैसी कि मन्त्री महोदय की इच्छा होती।

मैंने श्री राजकृष्ण बोष जी से फिर अनुरोध किया—अब वे पुनः सभा के मन्त्री थे। अनुरोध पर चले रेवन्यू के सेक्रेटरी के पास। फाइल उन्हीं के पास है। मैं साथ गया। सेक्रेटरी से मिले। गढ़ा हुआ उत्तर मिला—हाँ, आप फिर आवें, अभी इन्जीनियर आफिस में हैं। आने पर मैं देखूंगा। आपने क्यों तकलीफ की। उस जमीन के लिये थोड़ी-सी असुविधा है। इन्जीनियर मना करता है, कहता है सरकारी क्वार्टर बनेंगे। परन्तु, फाइल गवर्नमेंट के पास जाने दीजिये, जो फैसला करेंगे,

देखा जावेगा। आदि आदि ।

फिर भी फाइल रेवन्यू सेक्रेटरी के पास से निकलती नहीं, ४–५ मास और बीत गये।

इस समय श्री हरेकृष्ण महताब मुख्य मन्त्री थे। श्री नवकृष्ण चौधरी रेवन्यू मंत्री तथा पण्डित लिंगराज मिश्र शिक्षा-मन्त्री थे। मैंने इन तीनों महानुभावों से निवेदन कर रखा था। श्री नवकृष्ण चौधरी ने कई बार सेक्रेटरी से फोन पर कहा—राष्ट्रभाषा के जमीन की फाइल कहाँ है? उसकी क्या कार्रवाई की गई है? आदि आदि। परन्तु, उत्तर मिलता—हाँ सर! वह फाइल फलानी जगह है, आवश्यक कार्रवाई के लिये भेजी गई है; आदि बहाने बना कर टाल दिया जाता।

इस काम में जितने सहायक थे, उनमें एक रेवन्यू बोर्ड का क्लर्क भी था। वह कभी मेरे पास हिन्दी पढ़ने आया करता था। वह बतलाता—फाइल अमुक जगह जाती है। अमुक बाबू को कहने से काम जल्दी हो सकता है। उसे मालूम था कि चीफ इन्जीनियर नहीं चाहता, अत रेवन्यू सेक्रेटरी भी नहीं चाहता।

फाइल मेरी आँखों के सामने नाचा करती थी। मैं उसका फीता देख कर बतला सकता था कि यह राष्ट्रभाषा की जमीन सम्बन्धी फाइल है। सेक्रेटरी के घर और आफिस तो मैं शायद १।। वर्ष में हजारों बार गया हूँगा। वे कभी-कभी विरक्ति भाव दर्शाते। मुझे भी क्रोध आता। लेकिन मन समझाता, कि यह नहीं जानते कि राष्ट्र क्या है और क्या है राष्ट्रभाषा।

खुद का काम तो है नहीं, लगे रहो पीछे। अब तो आखिरी फैसला मन्त्रियों के हाथ में है।

उस क्लर्क ने कहा——पण्डितजी, रेवन्यू मिनिस्टर दिल्ली गये हैं, इसलिये आपकी फाइल कल सबेरे मुख्य मन्त्री जी के पास भेजूँगा।

मैं——बहुत अच्छा ! चिन्ता की कोई बात नहीं है।

क्लर्क——यह आखिरी फैसला होगा। मुख्य मन्त्री जी के पास से फाइल ठीक निकल आई तो फिर बिना बाधा के काम बनेगा।

मैं दूसरे दिन सबेरे १०॥ बजे फिर क्लर्क से मिला। उसने बताया——यह फाइल है, चपरासी लेकर जाता है।

मैं मुख्य मन्त्री जी के कार्यालय गया, देखा कोई नहीं था। मैंने अन्दर जाकर कहा——जमीन की फाइल आपके पास आई है ?

आपने मेज के कागज देखे, फाइल नहीं थी। इसी समय चपरासी फाइल लेकर आया, तो मैं बोल उठा——यही फाइल है।

मुख्य मन्त्रीजी——तो फाइल पहिचानते हैं ?

मैं——दो वर्ष से इसके पीछे लगा हूँ। आप ऐसा कीजिये, जिससे कल वृक्षारोपण हो जाय, और हो आपके ही हाथों।

मुख्य मन्त्रीजी ने फाइल मेरे सामने देखी। उलट-पलट कर पढ़ा। एक लाइन लिखा और कहा——जाओ, वृक्षारोपण की तैयारी करो। जमीन मिल जायेगी। चपरासी से कहा,

"यह फाइल अभी जाकर रेवन्यू आफिस में दे आओ।"

मैं फिर उसी क्लर्क के पास गया। मेरे जाने के प्रथम ही फाइल पहुँच गई थी। बड़ी खुशी से उसने कहा—अब कोई रोक नहीं सकता। आप बैठिये, मैं सेक्रेटरी साहब को फाइल दे दूं।

इतना कह वह चला गया। मेरे प्रसन्नता की सीमा नहीं थी। मैं नहीं समझ पाता था कि किन शब्दों में मुख्य मन्त्री जी को धन्यवाद दूं, और किन शब्दों में तहसीलदार और उस क्लर्क की प्रसंशा करूँ?

मैं प्रसन्नता के सागर में गोते लगा रहा था। क्लर्क ने कहा—फाइल रेवन्यू बोर्ड होते हुए आज कलेक्टर के पास चली जायेगी। वहाँ तहसीलदार को कहिये कि जल्दी करें।

मैं अब साइकिल पर चला तेजी से। फिर भी मुझे लगा कि यह नई साइकिल भी तेज नहीं चलती। आफिसरों का पक्ष लेती है। हृदय में गाने की इच्छा हुई, लेकिन गाना तो जानता नहीं था। हाँ, वीणापाणि के कण्ठ से सुने ५-६ रागों के स्वर से अवश्य परिचित था। मैं वही गुनगुनाने लगा। ोपहर के दो बजे थे, फिर भी मुझे भूख नहीं लगी थी। मैं सीधे, हाँफते हुए कृष्णबाबू के घर गया। सारी घटना कह सुनाई। वह अत्यन्त प्रसन्न हुए, बोले—वाह, कितनी दौड़-धूप करनी पड़ी तुमको। फिर उठते हुए बोले—चलो, कलेक्टरी चलें। रजिस्ट्री के कागज-पत्र सब वहीं तैयार करेंगे। हमलोग

रेवन्यू बोर्ड गये। वहाँ की मोहर लग कर फाइल कलेक्टर के पास जा चुकी थी। हम दोनों फिर कलेक्टरी वापस आये। देखा बड़े बाबू के पास फाइल मौजूद है, पढ़ रहे हैं। तहसीलदार श्री कृष्णचन्द्र नायक से बोलें—यह मुख्य मन्त्री जी के हस्ताक्षर की हुई फाइल है। कल सुबह जमीन नापकर दखल दे दो। शाम के समय वहीं वृक्षारोपण होने वाला है। कृष्ण बाबू ने फाइल पढ़ी, और लिखकर टाइप करने को दे दी। १० ही मिनट बाद टाइप कापी आ गई। कृष्ण बाबू ने कहा—सभापति जी के हस्ताक्षर चाहिये। मैं कागज लेकर चला स्वामीजी के पास कारण, इस जमीन की दरख्वास्त पर उन्हीं के दस्तखत हैं। सभापतिजी कोर्ट में थे। उनके पास आया, उन्होंने हस्ताक्षर कर दिये। कापी लेकर कृष्ण बाबू को सौंपा। कृष्ण बाबू ने कहा—"कलेक्टर की तबियत आज ठीक नहीं है। आज वह कार्यालय नहीं आवेंगे। मैं कागज पत्र लेकर उनके पास जाता हूँ। चलो, वहीं चलें।"

उस समय कलेक्टर थे श्री भावग्राही मिश्र। मैं उनसे मिला। यों तो दो-एक बार पहले भी मिल चुका हूँ लेकिन काम के लिये यह प्रथम अवसर था।

मैं जब उनके सामने पहुँचा, तो उन्होंने मेरे आने का कारण, पूछा। मैंने सारी गाथा बतलाई। आपने कृष्ण बाबू को पुकारा। उनसे जमीन वाले कागज को लेकर पढ़ा और हस्ताक्षर कर दिये। इस समय शाम को ५ बज चुके थे। कृष्ण बाबू ने कहा—"आप जाइये, कल सबेरे ८ बजे मैं अमीन को लेकर आ जाऊँगा।

आप तथा स्वामीजी जमीन पर रहेंगे। कल सामने जमीन नापना है।

मैंने सभा के मन्त्री श्रीयुत राजकृष्ण बोष को सूचित कर दिया। स्वामीजी को भी खबर दिया, और कल मौके पर उपस्थिति रहने के लिये कहा। राजकृष्ण बाबू तो बहुत खुश हुए। कारण, वे भी मेरे साथ जमीन के मामले में २–३ जगह दौड़ चुके थे।

अब वृक्षों की तलाश में चले। लगभग २५ वृक्ष मिल गये। आम, नींबू तथा अमरूद के पेड़ थे।

निश्चित समय पर तहसीलदार साहब अमीन को लेकर आ गये। मैं तो भोर से ही यहाँ जमा था। अमीन ने फीता और लोहे की साँकल सम्भाली। जमीन की नपाई आरम्भ हो गई। स्वामीजी तथा राजकृष्ण बाबू भी आये। थोड़ी देर के बाद चीफ इन्जीनियर साहब आये। वे खुश नहीं थे। दिल्लगी करते हुए राजकृष्ण बाबू से बोले—पण्डत राजकृष्ण! झण्डा और पायखाना का स्थान एक ही जगह न रखवाना। स्वामीजी तो ठहरे नामी वकील। राजकृष्ण बाबू के उत्तर देने के पहिले ही बोल उठे—मिस्टर वाडिया, हम उत्कली हैं। झण्डे का सम्मान करना जानते हैं—यह बम्बई नहीं है कि पायखाना और रसोईखाना एक ही जगह बनेगा।

वाडिया महाशय अब चुप हो गये। उनके मुख में इस उत्तर से स्याही पुत गई थी। वे चले गये। जमीन का नापना जारी था। मैं बहुत प्रसन्न था। इतने दिनों के श्रम का फल

आज मिला है। स्वामीजी ने दखलनामे पर हस्ताक्षर कर दिये।

साँयकाल नियत समय पर वृक्षारोपण समारोह सकुशल सम्पन्न हुआ। महताब बाबू और नवबाबू भी आये थे। अब यह जंगल डाँसो का आरामागार साफ किया जाने लगा। उस समय बाड़ी रुँधने की व्यवस्था हो गई। २–४ दिन में एक झोपड़ी भी बन कर तैयार हो गई। उसमें एक रक्षक भी रख लिया गया।

अब नींव डालने की चिन्ता सताने लगी। सन् १९४६ में कांग्रेस सरकार आई। राष्ट्रभाषा के प्रति आग्रह पैदा करने के लिये नये-नये उपाय सोचे जा रहे थे।

चुनौति

इसी समय उर्दू का झण्डा लेकर काका साहब कालेलकर आये। मैं उनसे श्री नित्यानन्द कानूनगो के यहाँ, जहाँ कि वह ठहरे थे, जाकर मिला। काका साहब बोले—"गांधीजी ने उर्दू भी पढ़ाने के लिये कहा है। कलकत्ते वालों का कथन है कि यदि उर्दू पढ़ायेंगे तो रुपये की सहायता दूनी कर दी जायगी।"

मैंने सोचा—मेरे सिर यह नई बीमारी आई। मैंने उत्तर दिया—ओड़िशा में यह उर्दू का झगड़ा न लगाइये। यहाँ मुसलमान भी उड़िया भाषा सीखते हैं। आगे चलकर इस उर्दू को लेकर झगड़े की बातें चल पड़ेंगी, और फिर उर्दू को राष्ट्रभाषा के साथ-साथ पढ़ाना मुझे उचित भी नहीं लगता।

काका साहब हम जैसों से बातें करना उचित नहीं समझते थे। मैं चला आया। १०॥ बजे आप फिर मुख्य-मन्त्री, शिक्षामन्त्री तथा नित्यानन्द कानूनगो से मिले। उर्दू पढ़ाने की बातें की।

मुझे बाद में पता लगा कि मुख्य-मन्त्री तथा शिक्षा-मन्त्री महोदय ने कहा था—पाठकजी को बुला कर आज शाम को बातें करेंगे, सोचेंगे कि यहाँ हिन्दी के साथ साथ उर्दू का चलना व्यवहारिक तो है?

इस पर काका साहब ने कहा था—नहीं, नहीं पाठकजी तो

कर्मचारी हैं। आप लोग जैसा भी कहेंगे, वे करेंगे।

शिक्षा-मन्त्री जी ने कहा—यह कैसे हो सकता है? सभा है, उसकी कार्यकारिणी समिति है। काम करने वाले इस नये तरीके को जानें कि क्या-क्या सुविधा होने वाली है? क्या-क्या असुविधा है? उनके मुख से भी तो मालूम हो।

इस निर्णय के फलस्वरूप शाम को मिलना तय हुआ। मुझे खबर दी गई। मैंने सभी सभ्यों को बुला भेजा।

सांयकाल सभा कार्यालय में मीटिंग बैठी। उस समय सभा कार्यालय भी चाँदनीचौक में था।

काका साहब भी आये और बोले—गांधीजी ने कहा है, कि उर्दू भी हिन्दी के साथ-साथ लोग सीखें।

मैंने कहा—४०–४५ मिनट में हिन्दी के साथ उर्दू पढ़ाने से दोनों नहीं सीख पायेंगे। दूसरी बात है कि अगर यहाँ उर्दू के लिये जोर दिया गया, तो भविष्य में झगड़े का रूप धारण कर लेगा। यहाँ लोग ओड़िया पढ़ते हैं। मुसलमान बालक उर्दू भी पढ़ते हैं। किंतु, जिनको नौकरी करनी है, वे तो प्रादेशिक भाषा पढ़ते हैं। यहाँ किसी प्रकार न तो भेद-भाव है, न भाषा सम्बन्धी ही किसी प्रकार की माँग। उर्दू भाषा पढ़ते हैं केवल धर्म ग्रंथों के लिये। यदि यह नियम चला तो प्रत्येक कार्यालयों में दो भाषाओं के क्लर्क और दो भाषाओं की फाइलें रहेंगी। यह बात प्रांत के लिये ही नहीं, बल्कि तमाम राष्ट्र के लिये भी हानिकर साबित होगी। यह तो परस्पर वैमनस्व का बीज बोना होगा। यह व्यवहारिक बात नहीं, यह राजनीतिक राजी-खुशी

की बात है। गांधीजी सभी को खुश करना चाहते हैं। परन्तु, यदि वे शासन में बिगाड़ देखेंगे तो कभी स्वीकार नहीं करेंगे। हाँ, प्रचारकों को अवश्य सीख लेना चाहिये। इससे लाभ होगा।

प्रांत में गड़बड़ी होगी, इस भय से उर्दू पढ़ाने की बात टल गई। पण्डित लिंगराज मिश्र और महताब बाबू ने भी इस विषय पर पूर्ण मत नहीं दिया। विचार करने के लिये समय मिला।

काका साहब कलकत्ता गये। उन्होंने अन्तिम अस्त्र का निःशंक प्रयोग किया। पेट की मार ही सर्वोत्तम समझा। उन्होंने सोचा होगा कि इसकी मार से पाठक के होश उड़ जायेंगे।

शीघ्र ही कलकत्ता से परवाना आया—यदि जल्द उर्दू नहीं पढ़ाते हो, तो हम सहायता नहीं देंगे।

यह बड़ा भारी आक्रमण था। मैं अपने को धैर्य पूर्वक सम्भाला। सोचा, क्या रुपया ही संसार में सब कुछ है। बिना सोचे विचारे पूर्व भारत राष्ट्रभाषा प्रचार सभा के कार्यकर्त्ताओं ने यह लिख दिया। काम के सामने अर्थ की चुनौती थी। मुझे यह कतई पसन्द नहीं आया। मैंने अपनी आत्मा से बातें की। तय हो गया—मैंने दो वर्ष तक दूसरों के घर में भोजन किया है। अब तो कटक में इतना परिचय हो गया है कि यदि एक समय एक घर में भोजन करूँ, तो शायद उस घर में पुनः भोजन करने की बारी ६ मास के बाद आये। मैंने निश्चय किया कि कलकत्ता की सहायता नहीं लूंगा। घर-घर में खाने की व्यवस्था कर

लूँगा। बाकी के जो प्रचारक हैं, उनमें जिनको अर्थ की सख्त आवश्यकता है, वे चाहें तो काम करें अथवा अन्य काम कर लें। मैं तो राष्ट्रभाषा का प्रचार करूँगा और अवश्य करूँगा। भोजन तो जिस घर में गया, उसी में मिल जायगा। एक कागज में घरों के नाम लिखा, ५०० से ऊपर नाम आये। मैं प्रसन्न हो गया। रुपयों पर मैं पदाघात कर दूं, मुझमें यह अभिमान जागा। मैं इन पैसे वालों को दिखलाऊँगा कि बिना रुपये के कैसे काम होता है।

इस भावना के उठते ही मेरे दिल का सारा रोष काफूर हो गया। मैं शांत हो गया, मस्तिष्क भी अब शांत था। मानो मैं कोई बड़ी निधि पा गया हूँ। मैं गाने लगा। बाहर भी देखता जाता कि कहीं बाहर मेरा गाना कोई सुन तो नहीं रहा है। कारण, मैं अपनी आत्म-तुष्टि किसी के पास पहुँचाना नहीं चाहता था।

मैं कह नहीं सकता कि किसकी प्रेरणा और आदेश से मुझे बल मिला है। सौभाग्य से इस मामले में किसी से परामर्श करना भी नहीं समझा। केवल अपना फैसला ही सुनाना चाहता था। मैं यह कहने लायक तो नहीं था कि कह दूँ—मुझे ऐसा काम करने के लिये ईश्वर से प्रेरणा मिली है। यद्यपि मैं ईश्वर को मानता था, परन्तु केवल मानता था, दिखलाता न था। कारण, जब कोई अन्याय होता देखता तो मुझे ईश्वर के प्रति पहले क्रोध आता है, क्योंकि अगर वह है तो फिर ऐसा क्यों होता है? मुझे अन्धविश्वास पसन्द नहीं है। न यही मानता था कि

ईश्वर जो करता है, ठीक ही करता है, मंगल ही करता है। लेकिन राम की प्रार्थना में तुलसी आदि के भजन मुझे पसन्द हैं।

दोपहर के समय जब बनमाली बाबू कार्यालय आये, तो मैंने पूर्व-भारत सभा का पत्र दिखलाया। वह चुपचाप मेरे मुख की ओर ताकते रहे। मैं भी चुप था। थोड़ी देर बाद मैंने कहा—प्रचारकों से सब बातें बता दीजिये। मैं तो कलकत्ते की उक्त शर्त वाली सहायता नहीं लूँगा। भोजन ही की तो चिन्ता है, तो ७० हजार घरों की बस्ती में भोजन नहीं मिलेगा क्या ?

बनमाली बाबू ने भी तेजपूर्ण मुख से कहा—हम कभी भी ऐसी शर्तवाली सहायता स्वीकार नहीं करेंगे। क्या आज तक गुजारा केवल कलकत्ता से चलता था। यह सरासर अपमान है, चैलेंज है।

मुझे बेहद खुशी हुई। जो कुछ चिन्ता थी वह भी गई। रामसुख जी से भी मैं यही आशा करता हूँ। हमने यह तय कर लिया कि कलकत्ते की सहायता नहीं लेंगे, और इसी समय इस आशय का पत्र भी सभी को लिख दिया कि वे अपना काम स्थानीय सहायता से चलावें।

कलकत्ते के पत्र का उत्तर मैंने लिख दिया—हम उर्दू नहीं पढ़ायेंगे। तुम अपनी सहायता मत दो। साँय के समय महताब बाबू, नवबाबू और पण्डित लिंगराज मिश्र जी से परामर्श किया। स्वामीजी और राजकृष्ण बोष को पत्र का उत्तर पढ़कर सुनाया, और डाक से भेज दिया।

जिनके पास धन है, उनको धन ही सब कुछ नजर आता है। अतएव इस दम्भ के साथ कि देखें कैसे चलते हैं, अभिमान-पूर्ण पत्र आया—"सहायता बन्द की जाती है।"

सहायता बन्द कर दी गई। पण्डित लिंगराज जी मिश्र ने पूछा—कितने रुपये की वार्षिक सहायता मिलती थी ?

मैं—३ हजार वार्षिक !

मिश्र जी—एक प्रार्थना पत्र उत्कल सरकार को दो। उतनी सहायता मैं वहाँ से दूँगा।

यह मंगलमय सम्बाद था। प्रार्थना-पत्र दे दिया। तीन हजार रुपये की वार्षिक सहायता मिल गई। दूसरे साल पाँच हजार, तीसरे साल दस हजार और फिर बाद में पन्द्रह हजार रुपये स्थायी सहायता मिलने लगी। काम अब और भी अधिक व्यापक स्वाधीन भाव से चलने लगा। भगवान को धन्यवाद है कि ऐसी बुद्धि दी, जिससे कलकत्ते वाली सहायता बन्द हो गई, और साथ ही सरकारी सहायता मिलने लगी।

गांधीजी ने उर्दू का प्रचार अपने हाथ में लिया। राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति वर्धा का काम अब भदन्त आनन्द कौशल्यायन के हाथ में था। वे बौद्धधर्मी साधु थे, पण्डित थे। उनके श्रम और ज्ञान से समिति बनी। पण्डित रामेश्वर दयालजी दुबे के परीक्षा परिचालन से परीक्षा का सम्मान और प्रचार फैला।

गांधीजी के साथ अन्तिम पत्र व्यवहार

राष्ट्रभाषा पर वज्रपात हुआ, गान्धीजी की मृत्यु से। १६४८ जनवरी, ३० को केवल राष्ट्रभाषा के लिये ही नहीं सारे राष्ट्र के लिये मुसीबत का दिन था। गान्धीजी का निधन संसार के मानव का निधन था।

गान्धीजी की सहायता, प्रेरणा से उत्कल में राष्ट्र-भाषा का प्रचार बढ़ा। मैं प्रत्येक वर्ष जनवरी के पहले सप्ताह में साल भर के संक्षिप्त वार्षिक सूचना दिया करता था। १६४८ जनवरी, के प्रथम सप्ताह में मैंने गान्धीजी को लिखा था :—

"बापूजी, मैं यहाँ उसी भाषा का प्रचार करता हूँ जिसकी कि आपने एक परिभाषा बाँध दी है। लेकिन मैं नागरी लिपि में ही उसका प्रचार करता हूँ। कारण, मुझे यह अच्छा नहीं लगता कि साथ साथ दो लिपि पढ़ाई जाये।

बापूजी, मेरा ख्याल है कि आप जो कहते हैं, उस पर 'हाँ' तो लोग कहते हैं; लेकिन कहे मुताबिक करते नहीं हैं। वे आपको ठगते हैं। मैं आपको ठगता नहीं हूँ। उर्दू लिपि के संबंध में ऐसी बाते हैं।

दूसरी बात है, कि 'हरिजन सेवक' में हमेशा रहता है, 'हरिजन से' तो क्या आप हमेशा अंग्रेजी में ही लिखते हैं?

सुशीला नायर ने लिखा—बापूजी को आपका पत्र

मिला है वे तो हिन्दी में ही लिखते हैं, बोलते हैं। अंग्रेजी में लिखने का काम तो कभी-कभी पड़ता है।

प्रथम बात गान्धीजी ने हजम कर लिया, वे जानते हैं। मेरा ख्याल है कि अगर गान्धीजी प्रथम भाषा का विरोध करके मत देते तो उत्कल की राष्ट्रभाषा प्रचार सभा आज जो खड़ी हो रही है, न देख पाते।

गांधीजी एक आततताई की गोली से ३० जनवरी १९४८ की शाम को मारे गये। यह उनका गोली से मारा जाना सारे विश्व के मानव की मानविकता पर गोली मारना हुआ है।

राष्ट्रभाषा समवाय प्रेस

एक दिन श्री जगन्नाथ मिश्र से बातें हुई। उन्होंने खादी को-आपरेटिव दुकान किया था। मैंने कहा—मुझे भी प्रेस लानेके लिये रुपये की आवश्यकता है। बिना रुपये के काम नहीं बनेगा।

मैं को-आपरेटिव के रजिस्ट्रार से मिला। अपनी प्रेस लाने की कामना जाहिर की। उनको मेरी बातें पसंद आईं। उसी समय नियम बनाने का आदेश दिया। श्रीयुक्त अनन्त प्रसाद पण्डाजी ने आधे घण्टे के अन्दर नियम ला रखा। मानो हमारे लिये बना बनाया तैयार रखा हो। उसको मैंने पंडित लिंगराज मिश्र को दिखलाया। श्रीयुत नित्यानन्द जी कानूनगो को भी दिखलाया। कारण, यह विभाग भी उन्हीं का था। उस समय वे भी एक मंत्री थे। पढ़कर आपने कहा—मैं इसको मंजूरी नहीं करता। कारण, को-आपरेटिव का बहुत-सा रुपया लोग हजम कर लिये हैं।

मैंने कहा—मेरे रहते यह नहीं होगा। मैं हजम करने नहीं दूंगा। भले ही इसमें जो परिवर्तन करना चाहें कर दीजिये। उन्होंने कितने 'पारों' की भाषा, भाव तथा नियम बदल दिये।

यह लेजाकर मैंने फिर श्री जगदबन्धु महापात्रजी को दिखाया। उन्होंने कमेटी बनाने के लिये कहा। कमेटी बन गई। श्री राजकृष्ण बोष सभापति, स्वामी विचित्रानन्द

दास कोषाध्यक्ष और मैं सेक्रेटरी बना। बाकी और ६ सभ्य थे, जिनमें पं० लिंगराज जी मिश्र एक थे।

दूसरे दिन आदमी आया। हमारी सभा का क्या सामान है? बन्धक दे सकते हैं? देखा, जाँच के बाद पता लगा कि को-आपरेटिव बैंक से ४० हजार रुपये दिये जा सकते हैं। २० हजार मशीन के लिये, २० हजार भवन के लिये।

इतना होने के बाद मैं चला कलकत्ते, मशीन खरीदने। मेरे साथ एक और सज्जन भी थे। कारण, उनकी जानकारी प्रेस के सम्बन्ध में अधिक थी। कलकत्ते जाकर एक मशीनवाले से मिले। चालू मशीन भी हमने देखी। परन्तु यह तो अभी भी जहाज पर थी।

मैंने देखा, मशीन सुन्दर चलती है। वह मुझे पसन्द आ गई। बड़ी खींचातानी के बाद १७ हजार में मशीन की कीमत पक्की कर ली गई। बाद में मुझे पता लगा कि इस मशीन पर कमीशन ५०० रुपये हमारे साथी ने मशीनवाले से लिये हैं। मुझे जब मालूम हुआ तो मैंने मशीनवाले से कहा—राष्ट्रभाषा एक पवित्र अनुष्ठान है। उसके साथ आप बाजारू बर्ताव करेंगे तो फिर हम यहाँ कभी भी नहीं आयेंगे। जो उचित दाम हो, लीजिये। कमीशन वाला हिसाब तो सभा पर छोड़ दीजिये।

मैंने कहा—मशीन का आर्डर पक्का हो गया। जहाज में है, आने के पहले ही खबर दे दीजियेगा। मुझे १५ दिन पहले खबर मिलनी चाहिये।

गांधी राष्ट्रभाषा भवन की नींव

प्रेस का आर्डर देकर मैं कटक आया। श्री जगदबन्धु महापात्रजी से सारी बातें कही। मशीन का आर्डर तो मैंने दे दिया है, लेकिन रुपये अभी तक नहीं मिले। घर भी नहीं बना है। जमीन के ऊपर कुछ बालू अवश्य जमा कर दी है। लेकिन केवल बालू से ही तो काम बनेगा नहीं।

इस बीच महताब बाबू से समय और तिथि को ठीक कर के भुवनेश्वर के पत्थर शिल्पी को पत्थर पर नाम लिखने का आर्डर दे दिया था।

अब महताब बाबू से मिलना आसान हो गया था। कारण, उन्होंने एक पास दे दिया था और समय बतला दिया था कि ८ से ९ के बीच सुबह। उसी समय तुम आकर हिन्दी प्रचार के बारे में बातें कर सकते हो। मैं जाता और बातें करता। अधिकांश गप्पें साहित्यिक होतीं। मैंने एक रोज पूछा—आपको इतना लिखने का समय कैसे मिल जाता है?

आपने कहा—जिस समय प्रथम प्रधान मंत्री बना था। उस समय मैं १८–१८ घण्टे, २०–२० घण्टे काम करता था। आई० ए० एस० सेक्रेटरी मुझे नीचा दिखलाने की कोशिश करते। लेकिन मैं भी सोचता—इन लोगों की नाड़ी की गति कितनी तेज चलती है, देखूं। होते, होते मैंने देखा कि इनकी

नाड़ी की गति अत्यन्त धीमी और उथली चलती है। मैंने किसी की बदली कोरापुट किया और किसी की १–२ रुपये की तरक्की कर दी। बस, मब मेरे पन्था से थोड़े ही दिनों में ठण्डे पड़ गये। अब मैं ४–६ घण्टे काम करता हूँ। बाकी समय केवल साहित्य-चर्चा करना है।

यह किसी को मालूम नहीं है कि मैं संगीत भी जानता हूँ, और सबेरे तीन बजे उठ कर वंशी बजाता हूँ। वह मेरे बक्से में हमेशा साथ-साथ रहती है, मेरी सबसे प्रिय संगिनी है वह वंशी। कितना मधुर है उसका स्वर, मैं दिन भर के सारे मन के मलाल भूल जाता हूँ।

हाँ! तो गान्धी राष्ट्रभाषा भवन की नींव मैं डालूँगा। ठीक रहा।

मैं तैयारी करने लगा। सेक्रेटरी को कहना ही भूल गया। लेकिन उनको मालूम था। कारण, इस समय वे महताब बाबू के पास आ गये थे। नींव महताब बाबू ही देंगे। उनको ऐसा कहा भी था। लेकिन निमंत्रण कार्ड मैंने लिख कर नहीं दिया था।

प्रत्येक सेक्रेटरी चाहता है कि मंत्रियों के पास प्रवेश करने से पहले उनसे मिला जाय। जैसे लोग महादेव के पास जाने के प्रथम नन्दी की पूंछ सहलाते हैं। उसी प्रकार, नहीं तो कुछ अंश में वैसा ही सही, खुशामद चाहते हैं।

मैं महताब बाबू से फिर मिला। बोला—कल सुबह 'गान्धी राष्ट्रभाषा भवन' की नींव डालनी है और आप के द्वारा

यह कार्य सम्पन्न होगा।

महताब बाबू—नहीं-नहीं, यह नहीं होगा। मेरे भ्रमण का कार्यक्रम बन गया है। आज रात को जाता हूँ। तारीख बढ़ा दो।

मैं—मैंने पत्थर पर तारीख लिखा ली है, स्थापक आप हैं। अगर उसकी पंक्तियाँ मिटा देंगे तो बदल दीजिये।

महताब बाबू ने घण्टी बजाई। चपरासी आया। उससे बोले—जाओ, टाइपिस्ट बाबू को बुलाओ।

टाइपिस्ट बाबू आ गये।

महताब बाबू—कल 'राष्ट्रभाषा भवन' की नींव डालना है।

टाइपिस्ट—इनका कोई पत्र तो आया ही नहीं। अब तो बालेश्वर, बारीपदा के कलेक्टर को भ्रमण कार्यक्रम भेजा जा चुका है।

महताब बाबू—नहीं, इन्होंने मुझसे कहा था। सबको तार कर दो। यह कार्यक्रम रद्द किया गया। बाद में लिखेंगे।

टाइप बाबू के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। प्रधान मंत्रीजी का भ्रमण कार्यक्रम मैंने बदलवा दिया।

दूसरे दिन गान्धी राष्ट्रभाषा भवन का शिलान्यास हो गया। पत्थर पर लिखा था:—

गान्धी राष्ट्रभाषा भवन
संस्थापक—मान्यवर श्री० हरेकृष्ण महताब
प्रधानमंत्री, उत्कल
पौष शुक्ला सप्तमी रविवार
सम्वत् २००४
साल १३५५ अंक २८
कटक–१८।१।१९४८ ई०

नींव के बाद एक साधारण सभा हुई। श्री महताब बाबू ने कहा—राष्ट्रभाषा भवन जल्दी ही बन जायेगा। लोगों ने सोचा—महताब बाबू ने पैसे दिये हैं। तभी न ऐसा आश्वासन दिया है।

जलपान की व्यवस्था थी। इस क्रिया के समाप्त होते ही सभी अपने-अपने बसेरे की ओर चले। मैं तब यहाँ एक झोंपड़ी बनवा रहा था। एक माली रख दिया था। २ रोज में झोपड़ी बनकर तैयार हो गई। उसी में माली रहता और घर बनाने का सरंजाम भी रहता।

बालू जमा होने लगी। काँटों की बारी तो प्रथम से लग गई थी। एक 'गान्धी राष्ट्रभाषा भवन' का साइन बोर्ड भी लगा दिया गया था। जो गढ़हा था, उसमें बालू-मिट्टी गेरी जाने लगी।

यह उद्यम होने लगा कि छोटे-छोटे ३ कमरे बनाये जायें। जिसमें एक तो कार्यालय, एक में पुस्तकालय और अथिति रहें, और एक में संचालक रहें। लेकिन सीमेंट मिलती नहीं थी।

ईंटेवाला तो मिल गया। मिस्त्री भी मिल गया। ईंटे ऐसे मिले कि पानी से बचाना पड़ता।

इस प्रकार हम घर-गृहस्थी से नालायक, घर निर्माण के लिये ईंटें—चूने की चिन्ता में लगे।

काँग्रेस सरकार थी। पहले ३ हजार, ५ हजार, १० हजार और अब १५ हजार रुपये की सहायता मिलने लगी। उसी प्रकार कार्य की प्रगति भी होने लगी। मेरे दिमाग की एक ओर की चिन्ता बहुमुखी बन गई। प्रचार की चिन्ता, साहित्य निर्माण की चिन्ता और प्रेस की चिन्ता मेरे सिर पर सवार हो कर चलती थी, और आनन्द के साथ चलती।

सरकारी स्कूलों में हिन्दी का प्रवेश कैसे हो, इस ओर भी सोचा करता था। स्कूलों में हिन्दी प्रचार की योजना बनाने में एकमात्र सहायक होते आये हैं श्रीयुत आर्त्तवल्लभ महान्ति। इस ओर उनका दान सर्वोपरि है। साहित्य निर्माण तथा पुस्तकें और कोषादि की रचना में उन्होंने आलस्य कभी नहीं दिखलाया था। इससे उनको कुछ प्राप्त हो यह लोभ भी उनसे कभी प्रगट नहीं हुआ है। उनके श्रम और ज्ञान से सभा को हजारों की आमदनी होती है।

प्रेस की मशीन की बिल्टी आ गई है। घर भी बनने लगा। एक ही दिन में चालीस हजार रुपये मुझे मिले। एक प्रचारक ने तो ऐसी बढ़िया राय दी, क्या कहने हैं—"पंडितजी, ये रुपये प्रचारकों को समान भाव से बाँट दिया जाय। वे पहले बच जायें।"

मैंने कहा—यह राय प्रचारकों के बचने की नहीं, मर जाने की है। आगे हम मुख तो दिखला ही नहीं सकेंगे, मर गये समझना होगा।

२० हजार घर में लगे और २० हजार मशीन के आने में। मशीन लाकर खुले मैदान की बालू में रख दी गई। घेरा बना दिया गया। ऊपर छप्पर करके माली वहीं सोने लगा।

एक दिन की बात, माली नहीं था। मैं गया, देखा कि एक कुत्ता द्वार पर वीरासन में बैठा है। देखते ही उसने पैंतरा बदला। एक ही गुर्रान से मेरे शरीर के रोंगटे फूल उठे। मैं साहस नहीं कर सका अन्दर जाने का। इसी बीच माली आ गया। कुत्ता दुम हिलाने लगा। नाम रखा था उसने शंकर।

मैंने पूछा—इसको कहाँ से लाया है तूने ?

माली—मालूम नहीं, जिस दिन नींव पड़ी थी उसी दिन आया है। मैंने भोग खिलाया और यह रह गया। बड़ा अच्छा कुत्ता है।

मैं—इसको रखना, इसके खर्च के लिये सभा से लेना।

माली—रात भर जागता है, किसी की हिम्मत नहीं कि इधर पैर तो रख ले।

कुछ दिन बाद (सन् १९४८) में सभा का कार्यालय जमीन पर बने घर पर आ गया। इसी में सभा कार्यालय प्रेस कार्यालय, पुस्तकालय और प्रेस तथा सभा के ६–७ कर्मचारी भी रहने लगे।

राष्ट्रभाषा प्रेस की परिचालना

प्रेस बैठ गया। श्रीयुत हरेकृष्ण महताब बाबू के कर-कमलों के द्वारा इसका उद्‌घाटन हुआ। कटक में राष्ट्रभाषा समवाय प्रेस प्रसिद्धि प्राप्त करने लगा। और यह जंगल गुलजार रहने लगा। बिजली आई, फोन आया और आया पानी कल भी।

भवन की नींव पड़ गई है। रुपयों का नाम नहीं। प्रेस का घर बन गया है। यह एक बड़ी कमी की पूर्ति है। सभा उससे बहुत लाभ उठाती है। दिन-दिन प्रेस का काम बढ़ने लगा। इस काम में मेरा लोगोंने दुःसाहस माना, एक तो मशीन चलाने वाले के लिये और दूसरे व्यवस्थापक के लिये।

मिल्ही मशीन है। यह कटक में एक थी। चलाने वाला मिलता नहीं था। एक मियाँजी मिले, बोले—कलकत्ते में अमुक प्रेस में २० साल काम किया है। बिगड़ी मशीन बना लेते हैं। मुझे ऐसा लगा, मानो उत्तम आदमी मिल गया। वह आया, ३ दिन तक लगातार मशीन को खोलता–कसता रहा। एक दिन मैंने ४ घण्टे बैठकर उसकी लीला देखी। शाम को मैंने उससे कहा—कल मत आना।

विप्रचरण साहू अभी लड़का है। लेकिन उसका आग्रह है सीखने का। वह श्रमशील लड़का है। मैंने उसको कलकत्ते से आये मशीन बैठाने वाले के साथ कागज लगाते देखा था। कागज लगाने की विधि उसे मालूम हो गगी थी। केवल सीमा निर्देश

में दृष्टि भेद था। कागज जब ठीक लगता तो छपाई ठीक होती। अन्यथा कागज फट जाता। मैंने उससे कहा—चलाने का नियम तुमको मालूम है ?

उसने कहा—हाँ, लेकिन डर लगता है।

मैंने कहा—कोई बात नहीं चलाओ। मैं खड़ा हो गया। पहला कागज फट गया। दूसरा लगाया, तो ठीक छपकर निकला। मैंने कहा—अगर मशीन की खराबी होती तो यह भी फटता। एक फटे और एक ठीक निकले, यह तो कभी भी नहीं होगा। तुम कागज ठीक सीधा लगाओ।

फिर मशीन चली। १० कागज के बाद एक फटा। उस दिन मशीन दिन भर चली। एक रिम कागज फटा, लेकिन विप्रचरण समझ गया कि कहाँ और क्यों गलती होती है, और क्यों कागज फटता है ?

दूसरी बात है मैनेजर की, श्री गोपीनाथजी साहू इस प्रेस को बढ़ाने में अति उत्साही और उत्कण्ठित व्यक्ति हैं। व्यवस्था का भार मैंने उनके ही जुम्मे दिया है। लेकिन लोग तो उनका शिर खराब कर रहे थे। उनसे कहा—तुम चला नहीं सकोगे। इसमें तो कोई ग्रेजुएट मैनेजर की आवश्यकता है, यह भार तुम्हारे बूते का नहीं है। मुझसे भी लोगों ने कहा। मैंने कहा—देखा जायगा। अभी तो कोई असुविधा नहीं है।

यह कम बात नहीं है। मैं सेक्रेटरी हूँ। मुझे प्रेस के संबंध में कुछ भी मालूम नहीं, गोपीनाथ जी भी नये हैं। लेकिन प्रेस के संबंध में उनको जानकारी है। मुझसे एक दिन उन्होंने

कहा—प्रेस मैनेजर कोई अनुभवी ग्रेजुएट हो तो अच्छा होगा।

मेरा हिन्दी पढ़ाने का अनुभव है। मैं समझता हूँ मैं उत्तम ढंग से पढ़ाता हूँ। मैंने गोपीनाथ जी के साथ भी अध्यापकी की। मैंने कहा—देखो, मैनेजर का काम है कि वह यह देखे कि सभी कर्मचारियों के पास काम है, काम करते हैं, मशीन चलती है या नहीं? इतना काम क्या आप नहीं देख सकते?

बोले—अवश्य देख सकता हूँ।

मैंने कहा—तो मारो गोली ग्रेजुएट को; काम देखो, और प्रेसों में जाकर देखो कि कौन किस भाव में छापते हैं, उसी मुताबिक कभी कम कभी दो चार आने अधिक का बिल बना करेगा। तीसरी बात जो कहना है वह यह कि कोई ग्राहक अपने व्यवहार से असंतुष्ट न हो।

अब तो गाड़ी चली; और खूब तेजी से चली। उड़ीसा सरकार का प्रसिद्ध मासिक पत्र "उत्कल-प्रसंग", हमारे प्रेस में छपने लगा। इसे मैंने श्री महताब बाबू से माँगा था। कारण, यह उन्हीं के प्रेस 'प्रजातन्त्र' में छपता था। यह उनका बड़ा निःस्वार्थ त्याग है और प्रेस की बड़ी आय का स्थायी साधन है। कोई प्रेस मालिक कभी भी ऐसा नहीं कर सकता है। यह तो श्री महताब बाबू का ही साहस है।

गोपीनाथ जी प्रेस मैनेजर बन गये। प्रथम तो लिखने में लाज लगती, सोचते कि और कोई लिखे। लेकिन धीरे-धीरे रम गये। मेरी इच्छा पूर्ण हुई।

मैं ग्रेजुएटों पर विश्वास नहीं करता। वे कर्मठ, कर्मवीर नहीं निकलते, बल्कि जो भी कर्मचारी काम करते हैं उनकी चाल-ढाल से वे भी बिगड़ जायेंगे। धीरे-धीरे मेरी धारणा पक्की होती जाती है। अंग्रेजी पढ़े लिखे केवल अपनी बात छोड़ दूसरे की मंगल की बात कभी सोचते ही नहीं। इस बात पर उनको विश्वास नहीं होता कि मानवता भी कोई चीज होती है। इस-लिये मेरा विचार था कि अगर प्रेस का मैनेजर किसी ग्रेजुएट को बनाया गया तो प्रेस को प्रेत बना कर छोड़ जायेगा।

मुझे बेहद खुशी लगती है कि गोपीनाथजी की चिन्ता प्रेस को दिन दूने रात चौगुने बढ़ाने की है। अवश्य उनके सामने भी ऐसी भविष्यवाणियाँ रखी गई थी कि प्रेस नहीं चलेगा; रुपये की बरबादी है। कौड़ी मूल्य में प्रेस निलाम होगा, लेकिन प्रेस बढ़ने में लगा है। और आज प्रेस उत्कल में ख्याति प्राप्त 'राष्ट्रभाषा समवाय प्रेस' है।

वर्धा समिति की सहायता

गान्धी राष्ट्रभाषा भवन की नींव पड़ी है। उसके ऊपर उठने की लक्षण नहीं दीखते। मैंने वर्धा राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के मंत्री श्रीयुक्त मोहनलालजी भट्ट के पास प्रार्थनापत्र भेजा। उसके फलस्वरूप यह विधान बन गया कि प्रत्येक प्रादेशिक राष्ट्रभाषा समितियों को भवन बनाने के लिये १५ हजार रुपये की सहायता दी जाय। और सबसे प्रथम मैं हूँ, जो कि १५ हजार रुपये लाया हूँ। इस सहायता के लिये उत्कल प्रान्तीय राष्ट्रभाषा प्रचार सभा श्री मोहनलालजी भट्ट प्रधान मंत्री राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा का चिरस्मरण करती रहेगी। सर्वप्रथम वही इस भवन के बनाने में श्रीगणेश करने वाली संस्था है। उसी के बल पर सभा उत्कल सरकार से भी माँगने का साहस कर पाई है। और आज भवन बन कर तैयार होने की निश्चित तारीखें घोषित करने की बात सोचता है। यह भवन जब तक रहेगा, वर्धा समिति का, श्री भट्टजी का और साथ में परीक्षामंत्री पं० रामेश्वर-दयाल दुबेजी का नाम अपने काम के साथ लेता रहेगा।

हिन्दी प्रशिक्षण शिविर

उत्कल में हिन्दी प्रचार के लिये पं० लिंगराजजी मिश्र बड़े ही नेक साबित हुए हैं। वे अगर शिक्षा मंत्री न होते तो शायद सभा का काम इतना व्यापक न होता और न इतनी उन्नति ही कर पाती। आपने सभा की पूर्ण योजनाएँ काम में लगाया है। एक तो सन् ४८ में सारे अध्यापकों को लाकर दो मास हिन्दी शिक्षा की व्यवस्था कराया था, इस शिक्षण शिविर में ४०० अध्यापक आ गये थे। दूसरी बात थी सभा प्रकाशित पुस्तकें ही स्कूलों में चलेंगी, अन्य नहीं। और ६ से ९ तक हिन्दी पढ़ना अनिवार्य होगा।

लेकिन उस समय के अंग्रेज परिवार के विश्वासी सभ्य डी० पी० आई० ने उसका ऐसा रूप दिया कि आज भी उस पिछलगुवा डी० पी० आई० के नियम लोग बदल नहीं पा रहे हैं। बल्कि यों कहा जाय कि चाहते भी नहीं हैं। कुछ तो कहते हैं कि अंग्रेज तो फिर आने वाले हैं।

राष्ट्रभाषा सरकारी दफ्तरों में प्रवेश तो कर ही नहीं पा रही है। बल्कि, स्कूलों में भी उसका स्वच्छन्द प्रवेश नहीं है। फिर भी जो ४०० शिक्षक हिन्दी सीखे हैं उनसे कुछ प्रभाव पड़ा है।

हिन्दुस्तान २०० साल तक पराधीन रहा है। इसी विचार में आज्ञा पालन करने का मन इस प्रकार गढ़ गया है

कि बिना जोर, आदेश के काम किया ही नहीं जाता है। एक बढ़िया उदाहरण लीजिये :—

पं० लिंगराजजी मिश्र शिक्षा-मंत्री थे। डी० पी० आई० कार्यालय का एक क्लर्क जरूरी फाइल लेकर गया था। मैं वहीं मौजूद था। पंडितजी फाइल पढ़ने लगे और वह वहीं खड़ा रहा। पंडितजी ने कहा—इस कुरसी में बैठ जाओ। वह खड़ा ही रहा, वैसा करने का अभ्यास जो है। पंडितजी ने तीन बार कहा तो वह बैठ गया। पंडितजी फाइल की भाषा पढ़ते जाते और संशोधन करते जाते। बोले—ऐसी भाषा मत लिखा करो, अभ्यास कर लो, देखो कितनी गल्तियाँ हैं। आदि आदि। मेरा काम था। मैं भी उसके पीछे-पीछे डी० पी० आई० के कार्यालय में गया।

वह अपनी मेज पर फाइल फेंक कर ठाठ से कुरसी में जम गया। पास के कमरे में से कर्मचारी यह जानने के लिये उत्सुक थे कि मंत्रीजी ने क्या कहा ? एक पूछ ही तो बैठा—क्या कहा ?

वह बोला—अरे काहे के मंत्री, मैं तो जाकर ठाठ से कुर्सी में बैठ गया। बोले भाषा ठीक नहीं, ऐसा लिखा करो। साहेबों के सामने कुरसी पर बैठना तो दूर रहा खड़े होने में भी डरते थे। ऐसी गल्तियाँ होतीं तो मुख पर फाइल उठाकर मारते।

कैसा इनसानियत का नमूना है ? हिन्दी प्रचार में स्वाधीन मनोवृत्ति ही बाधक है, लोग आदेश चाहते हैं। वे चाहते हैं कि केन्द्रीय व प्रादेशिक सरकार क्या आदेश देती है ?

और सरकार सोचती है, सभी का दायित्व है १५ साल के अन्दर तो तैयारी करनी है, तैयार होते होंगे।

१९४९ में एक और गुरु भार कन्धे पर आया। वह था स्कूलों में फिर से हिन्दी-शिक्षक रखना। जहाँ-जहाँ की पहले थे। मैं सोचता था वही रखे भी जायें जो थे। इसके पहले १९३८ में सरकारी बालिका विद्यालय में श्रीमती सरस्वती पाणिग्राही थीं। बालकों के विद्यालय में पं० बनमाली मिश्र, 'विशारद' थे। लेकिन अब श्रीमती सरस्वती पाणिग्राही पुरी में संस्कृत-शिक्षक नियुक्त थी। वे हिन्दी-शिक्षक बन कर कटक आने के लिये तैयार नहीं हुईं। इधर डी० पी० आई० ने कहा—अगर कोई ओड़िया महिला मिलेगी तो लाओ, मैं रख लेता हूँ। बालकों के विद्यालय के लिये चिन्ता नहीं थी। कारण, बनमाली बाबू तो हैं। लेकिन बालिका विद्यालय के लिये हिन्दी-शिक्षक की एक समस्या थी। प्रथम ट्रेनिंग स्कूल में हिन्दी शिक्षक रखने की बात तय हुई। उसमें दो उम्मीदवार थे, एक बनमाली बाबू, दूसरे श्री गोविंदचन्द्र मिश्र। लेकिन श्री गोविंदचंद्र मिश्र ने बनमाली बाबू को पीछे छोड़ दिया। बनमाली बाबू रह गये। और गोविंदचंद्र मिश्र ट्रेनिंग स्कूल में रख लिये गये।

मैं पहले बैपटिस्ट मिशन बालिका विद्यालय में हिंदी पढ़ाता था, और ट्रेनिंग में भी पढ़ाता। एक बालिका थी, जो हिन्दी पढ़ने-लिखने में क्लास में तेज थी। जो मैं कहता ठीक काम करके लाती। मेरे कहने पर उसने परिचय परीक्षा पास की थी। और टेनिंग पास करने के बाद 'सेलटर बालिका विद्यालय' में टीचर

बन गई। मैंने उससे कहा—हिन्दी शिक्षक बन जा। उसका हृदय काँपा, इतना बड़ा साहस उस समय नहीं था उसमें। राजकृष्ण बाबू को उसके घर ले गया। उन्होंने समझाया तो कुछ साहस किया। लेकिन, इस शर्त पर कि मैं उसे रोज नियमित शाम को पढ़ाने जाऊँ।

मैं राजी हो गया; और प्रार्थना पत्र देने पर वह बालिका विद्यालय में हिन्दी-शिक्षक के पद पर रख ली गई। मैं रोज शाम को जाता, जो पाठ कल पढ़ाना होता, उसी को पढ़ लेती। वह बड़ी श्रमशील लगी। उसके पढ़ाने में मुझे आनन्द आता। कारण, वह बात मानती है, परीक्षार्थी तैयार करती। मैंने उसको राष्ट्रभाषा रत्न पढ़ाया। वह स्कूल में उत्तम साबित हुई। वह बालिकाओं को विमुग्ध किये थी। गुण से, और ज्ञान तथा मोह से और पढ़ाने के तरीके से। वह स्कूल में तो थी कुमारी नीहार पात्र परन्तु बालिकाओं में नीहार दी के नाम से ख्याति प्राप्त थी।

स्वर्ण जयन्ती

उत्कल में एक और सर्वप्रथम काम आया, वह था महताब बाबू की स्वर्ण-जयन्ती। इसके दो प्रवर्तक थे। एक मूलजी चावड़ा और दूसरे पण्डित अनसूया प्रसाद पाठक। बाद में उप सभापति के रूप में श्री चिन्तामणि आचार्य और संयुक्तमन्त्री के रूप में श्री सी० भी० आचार्य आये। इसमें ५१ हजार की थैली तथा एक अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित करने की भी योजना थी। इन सारे कामके लिये ७० हजार से अधिक रुपये चाहिये थे। मैं दौड़ता था, लोग सोचते थे थैली वाले रुपये राष्ट्रभाषा प्रचार में जायेंगे। लेकिन मैंने उसकी कल्पना भी नहीं की थी। एक काम हाथ में लिया है, उसे परा करना है। अवश्य मूलजी के लिये लोगों को यह कहने का अर्थ था कि लोहे की खान पाने का यह भी एक तरीका है। खूब डराया, धमकाया, लेकिन अधिक रुपये वसूल नहीं कर पाये। अगर सम्बलपुर के बाबू भाई नहीं होते तो शायद यह रकम आधी मिलती। मेरे सामने ग्रंथ का प्रश्न था। ग्रंथ तैयार हो गया था। अनेक ब्लाक भी बन चुके थे। मूलजी के व्यवहार से लोग तंग आ गये थे। बात बात में दो अक्षर व्यवहार करते।

सौभाग्य से जिस दिन थैली देनी थी, उसी दिन राज-गोपालाचार्य जी भी यहाँ कटक आये हुए थे। यह काम उन्हीं

के नायकत्व में होना तय हुआ। लेकिन मजा यह कि हमको जाने के लिये पास की जरूरत पड़ी थी, वह भी मुझे मिला नहीं। न मैंने किसी से माँगा न लोगों ने दिया। बिना मेरी उपस्थिति के थैली भेंट कर दी गई। मुझे इस पर बहुत क्रोध आया, और शाम के समय जब मूलजी आये तो मैंने जी भर कर सुनाया। उन्होंने कहा कि महताब बाबू बार-बार याद करते रहे कि पाठक जी कहाँ हैं। किसी को मालूम नहीं था कि आपको पास नहीं मिला।

जो भी हो, मुझे इस पास के व्यापार से घृणा हो गई थी। जो व्यक्ति कल तक जनता का था आज रस्मरिवाज मानने के लिये पुलिस के घेरे में है। वह क्या देश का मंगल कर सकेगा। अस्तु

ग्रंथ का समर्पण अभी नहीं हुआ था। नागरिक अभ्यर्थना बाकी थी। उस दिन देव पूजा हुई, यज्ञ हुआ। महताब बाबू भी पुरी गये जगन्नाथ दर्शन करने। कारण, उस दिन उनका जन्मदिन था और ५० साल पूर्ण हो रहे थे।

यह उत्सव अभूतपूर्व था। महताब बाबू अकेले एक डब्बे में थे। पुरी से कटक तक सभी स्टेशन पर उनका स्वागत होता आया। दोपहर १२ बजे दिन को स्टेशन से जुलूस निकला। नवम्बर का महीना। नाति शीत, नाति ग्रीष्म। जुलूसमें लगभग ५०–६० हजार आदमी थे। १०० फाटक तैयार हुए थे। आगे आगे हाथी पर राष्ट्रीय झण्डा उड़ता चल रहा था।

जुलूस शाम को बाराबाटी के मैदान में पहुँचा। श्री

महताब बाबू ने यज्ञ की पूर्णाहुति दी और मंच पर गये।

मैंने अभिनन्दन पाठ किया और ग्रंथ भेंट किया। क्या ही समा थी। उस सभा में डेढ़ लाख आदमी उपस्थित थे।

महताब बाबू उत्तर देने खड़े हुए, लेकिन कुछ बोल नहीं सके। उनका गला भर आया। "मैं सभी कटक वासियों को इस प्रेम के लिये धन्यवाद देता हूँ", कहकर बैठ गये। और अपने गले के चादर से आँसू पोछे। कितना लोगों में प्रेम था, उनके प्रति।

जब दो-चार रोज के बाद रुपये व्यय की बात आई तो हम लोगों ने कहा—वह तो आपकी स्वाधीनता पर है। चाहे जिसको दीजिये।

महताब बाबू—तो मैं २६ हजार रुपये उत्कल विश्व-विद्यालय को और २५ हजार रुपये ठक्करबापा के आदिवासियों के सेवा मण्डल को देता हूँ।

काम खतम हो गया। मुझे ऐसा लगा कि यह काम सर्वोत्तम हुआ है। अगर प्रचार सभा को एक भी रुपये मिलते तो लोग समझते—अपने स्वार्थ के लिये करता था।

गांधी राष्ट्रभाषा भवन की नींव महताब बाबू ने डाली थी। लेकिन रुपये आने की गुंजाइश नहीं दीखती थी। एकमात्र आशा रह गई प्रेस की आय पर। सोचा—धीरे-धीरे इसी से बनेगा।

राजाजी और राष्ट्रभाषा

स्वाधीन देश की राष्ट्रभाषा अपने देश की भाषा होती है। इसी उद्देश्य को लेकर गांधीजी ने राष्ट्रभाषा का स्थान हिन्दी को दिया था। एक तो हिन्दी सभी प्रांतो में समझी और बोली जाती है, और दूसरे १६ करोड़ लोगों की मातृभाषा है। हिन्दी ही भारत में एकमात्र भाषा है जो बिना सीखे ही मुख से निकल पड़ती है। भारत लोकसभा में यह सवाल है कि राष्ट्रभाषा अंग्रेजी रहे कि हिन्दी। इस पर गरमागरम बहस होती है। कितने लज्जा और परिताप की बात है, आज तक हम हिन्दी को राष्ट्रभाषा के नाम से पुकारते आते हैं। उसका प्रचार करते आते हैं और अब प्रश्न उठता है---अंग्रेजी हो कि हिन्दी? थोड़े दिनों में यह भी प्रश्न उठ सकता है कि भारत के प्रधान मंत्री भारतीय हों कि इन्गलिस्तानी? भारत पार्लियामेण्ट के राष्ट्रपति कौन हों? भारतीय या जो राजा पहले थे वही।

लोगों की राय है, और साथ काम करने वालों की राय है कि यह बीमारी राजाजी की है। उनके ख्याल हैं कि गान्धीजी के बाद भारत के नेता वे होते, सो नहीं हो पाये। इसका दोष जनता पर नहीं, बल्कि, उन्हीं पर है। नेता कहने से नहीं हुआ करते, बल्कि जनता का प्रेम पाने से होते हैं। राजाजी ने जनता की इतनी सेवा नहीं की। गान्धीजी के पास पास रहते, लेकिन जब जब कष्ट सहने और जेल जाने का मौका आया है, तब तब

राजाजी किसी न किसी प्रकार उससे अलग रहे, जनता को धोखा देने के लिये एक नया फिसाद निकालते।

गाँधीजी के पुत्र देवदास गान्धी ने राजा जी की कन्या के साथ शादी की थी। यही एक मधुर सम्बन्ध से खद्दर पहिनते हैं। देश सेवा का तात्विक विवेचन वे करते हैं। परन्तु तकलीफ सहन करना उनको स्वीकार नहीं है। हमेशा से काँग्रेस जब जब आन्दोलन करती राजाजी विरोध करके जेल से बाहर, रहते। काँग्रेस ने शासन प्राप्त किया। राजाजी आगे मद्रास के प्रधान मंत्री बन गये। राष्ट्रभाषा का समर्थन जितना उनसे मिला उतना किसी से भी नहीं। मद्रास में पहले से एक दल है, जो हमेशा अंग्रेजों के साथ रहा है, वे हिन्दी विरोधी हैं। राजाजी ने उनको जेल दिया और कहा--दक्षिण भारत को मैं हिन्दी में भी पीछे नहीं रहने देना चाहता।

वे राष्ट्रपति बने। उनसे लोगों ने बड़ी-बड़ी आशाएँ की थीं। लेकिन, स्वार्थ-वश हो वे भूल गये, राष्ट्र के राष्ट्र भाषा को। अंग्रेजी प्रेम की गंगा पहले उन्हीं के मुख से निकली। लोग कहते हैं, वे बड़े ज्ञाता हैं, चतुर राजनीतिज्ञ हैं। लेकिन यह क्या ज्ञानियों के लक्षण हैं? चतुर राजनीतिज्ञों के काम हैं?

१५ साल की राष्ट्रभाषा की अवधि उनकी है। अंकों की भूल उनकी है। उन्होंने हिन्दी के खिलाफ दक्षिणियों को भड़काया है; केवल नौकरी के लिये, पेट के लिये।

मेरा तो मत है कि इस काम को ठीक करने के लिये भारत सरकार को उचित है कि जिस प्रकार केन्द्रीय लोक सभा

के लिये सदस्यों की संख्या प्रांतों के लिये नियत है, सुरक्षित है। उसी प्रकार नौकरियों के लिये सीट भी सुरक्षित कर दी जाय।

हिन्दी की क्लासें पहले की तरह ही जारी है। मैं किसी को असंतुष्ट नहीं करना चाहता। जो भी कहता; हामी भर लेता। भले ही वहाँ १५ दिन बाद नम्बर आता क्लास करने का। लेकिन, मैं ना, करता ही नहीं।

मैं जहाँ जहाँ क्लास करता, ठीक पढ़ाता, मन से पढ़ाता, ऐसा पढ़ाता था कि पढ़ने वाले का दिल रम जाता। घर-घर जाकर मैं केवल लड़कियों को ही पढ़ाया करता था। जहाँ १५–२० तक लड़कियाँ और महिलायें मिलतीं, हिन्दी पढ़ाई शुरू हो जाती।

मैं आगे कह आया हूँ कि मेरा यहाँ मान था। जहाँ-जहाँ जाता, रसगुल्ले का नाश्ता जरूर आता। मैं पान नहीं खाता था, चाय नहीं पीता था। इससे मेरी इज्जत होती और खासकर लड़कियाँ तो मेरा सम्मान करतीं ही। उनके मन में होता कि मैं उनकी पढ़ाई में न तो स्वार्थ दिखलाता हूँ और न आलस्य ही करता हूँ। हिन्दी पढ़ाने में मैंने किसी से कुछ फीस नहीं ली। फलस्वरूप राष्ट्रभाषाका सम्मान दिन-दिन बढ़ता जाता है।

घर-घर पढ़ाना बन्द

एक दिन की बात है, जो मेरे लिये बरदान साबित हुई। २५ महिलायें तथा लड़कियाँ हिन्दी पढ़ती थीं। पढ़ाई एक धनी घर में होती थी। उनमें एक बालिका थी, जो पढ़नेमें बहुत तेज, सौम्य थी और सुशील थी। मेरे प्रति उसकी श्रद्धा थी। मैं भी पढ़ाने में उसके प्रति विशेष आग्रही था।

एक दिन उसके पिता मेरे पास आकर बैठ गये। बड़े प्यार से बातें करने लगे, और बातों बातों में पूछा मेरी शादी हुई है कि नहीं? मैंने सरलता के साथ कह दिया—जो नहीं कहा करता था—नहीं! आपने दिल्लगी से कहा—अरे पण्डितजी, किसी घर की युवती को उड़ा न ले जाना।

मैं सन्न रह गया; उत्तर न दे सका। मैंने यह सुनने की तो कभी कल्पना तक नहीं की थी। यों तो मैं पहुँचा हुआ योगी नहीं था। लेकिन, मेरे रामने मुझे बचाया है। मैं मुसीबत के समय ही उनको बुलाया करता हूँ। ऐसे में कभी उनको तकलीफ नहीं दिया करता। जब मेरे बूते के बाहर का काम होता, चिन्ता आती है और मेरी अक्ल काम नहीं करती तो मैं राम को पुकारता हूँ। वे मेरा काम कर जाते हैं।

मैं वहाँ से चला आया। मन में आया, हे राम! यह क्या सुनता हूँ? मेरी तरैया भर आई। मैंने मन-ही-मन दो बातों का निश्चय किया। एक तो यह कि किसी के घर में पढ़ाने नहीं

जाऊँगा और मौका मिला तो किसी लायक युवती से शादी कर लूँगा। यह निर्णय मन और आत्मा के सिवा दूसरा कोई नहीं जानता था। आज तक भी नहीं जानते हैं। कारण, यह निर्णय करना आसान था लेकिन काम कर जाना मुश्किल था।

शादी के लिये हमेशा मित्रगण कहा करते। लेकिन, दो व्यक्ति अधिक पीछे पड़े थे। एक हैं श्री विश्वनाथ दास एम० पी० और दूसरे हैं पं० रामेश्वर दयाल दुबे। विश्वनाथजी की बातें सुनकर हँसी में उड़ा देता और दुबेजी को कुछ जली कटी भी सुना देता। उनका मत था कि महाराष्ट्र, गुजरात, बंगाल जहाँ कहीं भी मैं चाहूँ वे बातें चला सकते हैं।

मैं चुप हो जाता। बहुत होता तो बिगड़ कर कुछ कह जाता।

मेरे जीवन चर्या के बारे में अनेकों को कौतुहल होता। लेकिन मेरा मत है कि अगर आदमी के पास इतने ज्यादे काम हो कि दूसरी चिन्ता करने को समय ही न मिले, तो सारी समस्यायें हल हो सकती हैं। मेरे पास बहुत काम था। और थे राम। मैं राम राम जपता, परन्तु किसी ने कभी देखा नहीं। बल्कि, अनेकों का ख्याल है कि मैं नास्तिक हूँ। पर यह धारणा गलत है। हाँ, इतना है कि मुझे जब जरूरत होती है तो चुपके से राम को बुलाता हूँ, और वे सुनते हैं।

मैं अब बाहरी क्लासें छोड़ चुका था। इस समय वर्धा से दुबेजी आये। उनके सामने वही नारा रहा। हम दोनों रेल से ब्रह्मपुर जा रहे थे। १२ बजेसे ४ बजे तक दुबेजी केवल शादी

के लिये पीछे लगे रहे। मैंने विरक्त होकर कहा—आपके विचार तो ठीक हैं। पर मेरी हालत को तो देखो; न खाने का ठिकाना, न रहने का घर। कौन अपनी लड़की देगा? और कहाँ ले जा करके बैठाऊँगा?

दुबेजी—आप हाँ कीजिये! मैं टीक किये देता हूँ। महाराष्ट्र में तो १० दिन में बात पक्की कर दूँगा।

मैं—अच्छा, तो कीजिये। मैं खुद अपनी परिस्थिति उसे बतलाऊँगा। अपनी दशा मैं छिपाऊँगा नहीं।

दुबेजी—तो बात पक्की रही।

मैं—बात पक्की कैसे रही? मैं जानता नहीं, सोचा नहीं। वे भी क्या मुझसे परिचित हैं।

दुबेजी—अभी तक तो बातें मैंने किसी से उठाई नहीं। लेकिन आज ही मैं लिखे देता हूँ, एक आदमी को। वह टीक कर के मुझे लिखेगा।

मैं—जल्दबाजी न कीजिये, मैं वर्धा जाऊँगा, तो बातें हो जायेंगी।

मैं बंगाल से परिचित हूँ। नवद्वीप में था कुछ काल। सोचा वहीं नवद्वीप में अगर अमुक लड़की की शादी नहीं हुई होगी तो मैं उससे शादी करूँगा। लेकिन, कब? वहाँ जाना होगा, मिलकर पूछना होगा। उस समय तो वह तैयार थी।

विवाह की भूमिका

गरमी के दिन थे। दोपहर के समय ब्रह्मपुर पहुँचे। रामसुख जी को कहा—अरे, साबुन मँगाओ, नहाना है। साबुन आया, कस कर स्नान किया। भोजन दूसरे स्थान स आया था, खाया और लेटे, तो एक लड़की आई। रामसुखजी ने दुबेजी से परिचय कराया। इसी साल रत्न परीक्षा देंगी। अच्छी हिन्दी जानती हैं। मैंने भो दो-चार सवाल उससे किये। और सो रहा। शाम को उठे तो गोपालपुर के लिये चले। दुबे जी, मैं, रामसुख जी और राधामोहन साहू थे।

नाश्ता करके समुद्र किनारे गये। गोपालपुर का समुद्र का किनारा अपने सौन्दर्य के लिये भी प्रसिद्ध है। क्या ही समा बाँधे था सागर।

शाम का समय था। सूर्य डूबने ही वाला था कि दुबेजी ने कहा—रामसुख जी, पाठकजी को मैं बहुत समझाता हूँ कि शादी कर लो, लेकिन वे तो टालते जा रहे हैं।

सन्ध्या बेला में और नीर निधि की बेला भूमि में मेरे मुख से यों ही निकल गया—अब तो शादी करेंगे तो ब्रह्मपुर में, और किसी तेलगू महिला से।

तीनों निस्तब्ध! ५ मिनट तक किसी के मुख से बातें नहीं निकली। यह दम्भ और निराड़म्बर बातें, प्रतिज्ञा की घोषणा जैसी थीं। इस बार दुबेजी ने कुछ भी नहीं कहा।

राजी-बे-राजी नहीं पूछा। यह भी किसी को मालूम करने का मौका नहीं कि मैंने निश्चय किया है तो किससे? अगर ऐसा दुबेजी कर भी बैठते तो कदापि बतला नहीं सकता था। वह अन्तर की बात थी—सागरका सौन्दर्य देखकर मन की प्रसन्नता निकल पड़ी। दुबे जी ने अपनी कविता पाठ की।

आठ बजे हम लोग डाक बंगले आये, बरामदे में यों ही लेट गये। सामान तो कुछ लाये ही नहीं थे। सोये और उठे तो सबेरा। ऐसी बढ़िया नींद अधिक दिनों से नहीं आई थी। मेरा मन प्रसन्न था, सबेरा होते ही शौच के लिये चले। हमारे पहले से ही महिलाओं और मर्दों की पंगत लग चुकी थी। हम बड़ी दूर तक चल गये। यह समुद्र किनारा था।

मैं और राधामोहन साहू एक नावके पास मछली मारने के अभियान के लिये जानेको तैयार कैवर्तों का और सागर उर्मियों का युद्ध देखने लगे। दुबेजी और रामसुखजी आगे बढ़ गये, कहा कि हम जरा निजी बातें कर रहे हैं। आध घण्टे बाद लौटे तो मैंने कहा—क्या षडयंत्र चल रहा है?

नहीं कुछ परीक्षा संबंधी चर्चा थी। दुबेजी ने कहा—हाँ, पाठकजी, मैं फिर कहता हूँ अगर हामी भरो तो मैं पूने में बात चलाऊँ, एक महिला हैं।

मैं—पूना में एक ही महिला हैं! और तब तो थर्ड या फोर्थ हैण्ड होंगी।

दुबेजी—ग्राहक तो इससे भी ज्यादा हैं। लेकिन वह पढ़ी है और है माता-पिता के गरीब घर की।

मैं—आजकल राष्ट्रभाषा का काम छोड़कर क्या आप इसी काम में लग गये ?

दुबेजी—पाठक जी मैं दिल्लगी नहीं करता।

मैं—लेकिन मैं मानता हूँ कि आप दिल्लगी करते हैं। मेरी हालत को नहीं देखते, न खाने का ठिकाना, न बैठने का स्थान। आज यहाँ तो कल वहाँ। मैं किसी की परवाह करने वाला नहीं हूँ। इस समय तो मैं यों हूँ कि अगर कोई कुछ कहे तो तुरंत कहूँगा, "लेले अपनी लकुटी कमरिया बहुत ही नाच नचायो", कभी कभी मैं सोचता हूँ—चित्रकूट चला जाऊँ। वह स्थान मुझे बहुत पसन्द है। मैं वहाँ था। कभी कभी अकेले निकल जाता और देखता कि गुफा खाली है। साधु तीर्थ यात्रा के लिये गये हैं। मैं बैठ जाता, ध्यान लगाता—ध्रुव बनने की चिन्ता करता। ध्रुव भी तो बालक था मैं भी उस समय बालक था और घर से भागा हुआ बालक। मुझे उस एकान्त जीवन में कितना आनन्द आता था। रामकी छबि दर्शन करने की कोशिश करता। उस कुटी में मन को रमाने की कोशिश करता। उस समय मैं सिद्धासन लगाने में सर्वप्रथम होता था। २२ घण्टे बैठ जाता। मैं भजनाश्रम विद्यालय में इस परीक्षा के परीक्षार्थियों का उत्तम बालक माना जाता था।

दुबेजी—यह जीवन चरित्र अच्छा रहा।

मैं—कितनी मुसीबत, कितने उलट फेर के बाद मेरी नाँव यहाँ एक किनारे लगी। न जाने कब जोर की वर्षा आये और यह पेड़, जिसमें मेरी नाव बंधी है, उखड़ जाय, मैं अगर

किसी का उपकार नहीं कर सकता तो बिगाड़ूँ ही क्यों ? किसी का जीवन बरबाद करने का मुझे क्या अधिकार है ? मैं, अगर यहाँ से चलूँ तो मेरे पास कलकत्ते तक के लिये रेल किराया नहीं है।

दुबेजी ने कहा, "रुपये की चिन्ता मत कीजिये। मैं ५००–१००० दे दूँगा।"

मैं चुप हो गया। जिस प्रवाह में मैं बह रहा था, उसके सामने एक बड़ा पहाड़ आ गया। बातें तो गम्भीरता के साथ चलती थी।

बस अड्डे तक आये। देखा बस छूट गई है। कुछ दूर आगे चले तो एक खाली बैलगाड़ी जा रही थी। उसमें बैठ गये। ५ मील चलने के बाद छत्रपुर-ब्रह्मपुर बस मिला।

हिन्दी भवन जाकर देखा कि वहाँ रामसुख की कन्या भतीजी, और रत्न परीक्षा में बैठने वाली परीक्षार्थिनी बैठी हैं। उठीं तो लेकिन किसी ने दुबेजी को और मुझे नमस्कार नहीं किया—बस, सूखा पेड़ सामने है—इसके स्मरण होते ही मुझे हँसी आई। मुस्कराते देख दुबेजी भी हँसे। उनकी हँसी में साहित्यिक मतलब था, जिसे मैं समझ नहीं सका था। लेकिन, एक मास बाद समझ में आया।

भोजन के उपरान्त मैंने रत्न की परीक्षार्थिनी को फिर देखा। मुझे ऐसा लगा कि मैं इससे फिर पूछूँ कि कैसी तैयारी कर रही हो ? लेकिन, फिर चुप रहा। बातें करने की लालसा बार-बार उमड़ती और मैं वहीं एक थपेड़ में बैठा देता। न

मालूम क्यों मुझे वह लड़की अधिक आकर्षक लगी। लेकिन मैं फिर उससे बातें नहीं ही की। यह मुझे पसन्द नहीं है कि जान न पहचान मैं तेरा महमान, आगे से बनूँ।

वह बुरी नहीं थी। श्यामल रंग, सुडौल कलेवर, काव्य-दृष्टि से भी मैंने उसे दुबेजी की नजरों को बचा कर देखा। माथे पर अगर बेन्दी होती तो बिहारी के कथनानुसार 'तिय लिलार बेंदी लसे, अंक दश गुनो होय' की कहावत सत्य चरितार्थ होती।

मन की कल्पना भी एक विचित्र पहेली होती है। कभी कभी ऐसी बातें हृदय में उठती हैं जिनका, कुछ कूल-किनारा नहीं होता।

मैं भी कभी-कभी ऐसा सोचता हूँ, हनुमान जैसा बल हो, वशिष्ठ जैसी आत्मशक्ति हो कि एक ही आशा-दण्ड के घुमाते ही महाप्रलय हो जाय। फिर जो यह अन्याय होता, सामने हम देखते हैं, एक मिनट में दूर हो जायेगा। और अमन-चैन रामराज्य की प्रतिष्टा हो जायेगी।

एक कहावत है; 'हर्रे लगे न फिटकरी, रंग चोखा आवे', मुझे बाद में अपने ऊपर हँसी आती है, और उक्त कहावत अपने पर घटती नजर आती है। जरा-सा शरीर को कष्ट न हो, भर पेट भोजन हो और उसमें दूध, घी जरूर हो। और फिर वशिष्ठ जैसी आत्मशक्ति भी अपने आप आ जाय। वाह, आत्म-शक्ति क्या है राष्ट्रभाषा के शिक्षार्थी है कि कहे आ आ इधर बैठ जा। सो वह आकर बैठ जाय।

जब से मैं नये घर में आया हूँ मुझे उठते बैठते एक ही कामना होती है--गांधी राष्ट्रभाषा भवन बन जाय, उसमें क्लासें हो, पुस्तकालय हो और ५ आदमी बैठकर साहित्य निर्माण का कार्य करें। मैं भी शान्ति से बैठ कर कुछ लिखूँ। कारण, मेरी चिन्ताधारा किसी से कम है, मैं नहीं मानता। मैं नहीं मानता कि जितना राष्ट्रभाषा के प्रचार, उसके आवश्यक सुधार और राष्ट्र में अविलम्ब प्रचलन की बात मैं सोचता हूँ; दूसरे उससे ज्यादे भी सोचते हैं। लोग कहते--राष्ट्रभाषा के लिये किसी को मजबूर न किया जाय। मैं कहता हूँ जरूर मजबूर किया जाय। राष्ट्र के लिये यही मंगलकर है। यह राष्ट्र के लिये कुनैन की गोली जैसी है। जिस प्रकार डाक्टर रोगी का रोग दूर करने में मत नहीं मानता उसी प्रकार राष्ट्र हित के लिये भी किसी का मत नहीं माँगना चाहिये। क्योंकि, राष्ट्रभाषा राष्ट्र में सम्मान की वस्तु है। किसी पर अन्याय करने की बात नहीं है। आदि आदि कितनी बातें मैंने दुबेजी से की थीं।

मैं कटक चला आया। वे विजयनगर रायपुर के पथ से वर्धा चले गये।

मेरा आन्तरिक आग्रह

सब ऋषियों में मुझे वशिष्ठ ही अच्छे लगते। मैं उनको समझने के लिये कोशिश करता हूँ। लेकिन कुछ किनारा नजर नहीं आता, उन पर क्रोध आता है। मेरा ख्याल है कि जिस प्रकार अक्षर-ज्ञान के लिये 'वर्ण-परिचय' पुस्तक बनी है, उसी प्रकार आत्मज्ञान के लिये भी 'आत्म-ज्ञान परिचय' बनना चाहिये था। सो ये मुनि लोग गये आत्म चिन्तन रत केवल अपनी उन्नति और अपनी आत्मा को ही ईश्वर के प्रति अनुरक्त बनाये रहे। अपना ज्ञान बढ़ाते रहे। टूटा-फूटा जो पड़ा, उपलब्ध हुआ वही पोथी में आया और सर्वोत्तम ज्ञान का साहित्य बन गया। लेकिन इससे बहुत अच्छा ज्ञान उनके पास था। इन्हीं से अनुमान किया जा सकता है। इतना ज्ञान मुझमें होता तो एक ही दिन में राष्ट्रभाषा सीखने का आदेश दे देता। राष्ट्रभाषा सीखने के संबंध में किसी प्रकार का समझौता मुझे पसन्द नहीं। जो काम होना है, और राष्ट्र के लिये सर्वोत्तम श्रेष्ठतर है, उस पर विचार करना आलसियों का काम है। नेताओं की बातें मुझे पसन्द नहीं है। ये लोग बातें करते हैं। लोकमत का ढोल पीटते हैं। लेकिन काम सौ में एक प्रति के लाभ की बातें हैं। जनमंगल की बातों पर चिन्ता नहीं करते, उनको ख्याल नहीं है। हालाँकि जानते हैं कि एक अंग्रेजी के प्रार्थना-पत्र लिखने के लिये लोगों को कितना श्रम, कितना पैसा, और कितना समय देना पड़ता है।

वे लोग राज-शासन को इसी लिये अधिक पसन्द करते हैं कि राजा को सड़कों पर जाते, लम्बा नमस्कार किया कि वहीं उनकी प्रार्थना का फैसला हो जाता।

अंग्रेजों ने लोगों को खुदगर्ज बना दिया है। अपना पेट भरने के सिवा अन्य की चिन्ता बहुत परे की बात है। यह जन-शासन नहीं है और न प्रजातन्त्र शासन ही। प्रजातन्त्र शासन में प्रजा की बातें हो और प्रजा की भाषा हो। अंग्रेजी प्रजा शास्त्रीय भाषा कदापि नहीं है न थी, न बन ही सकती है। उसमें कोई मौलिक बल नहीं है। मुझे उनकी बुद्धि पर तरस आता है जो अंग्रेजी की वकालत करते हैं। दुख की बात है कि लोग लोभ के वश हो अंग्रेजी की वकालत करते हैं। वे दो सौ वर्षों में अंग्रेजी से क्या पा सके हैं? और क्या पाना बाकी है?

मैं इस बीच नाना उधेड़बुन में लगा था। मुझे केवल सरकार की राष्ट्रभाषा नीति पर क्रोध आ रहा था। मेरा ख्याल पक्का होता जाता था कि अगर रूस-सा, चीन-सा यहाँ पर भी शासन शुरू हो जाय तो राष्ट्रभाषा का बड़ा भारी मंगल होगा।

श्री रामसुखजी भारती का पत्र मिला कि दुबेजी के कथन पर मैंने एक महिला से बातें की हैं। एम० ई० स्कूल में हेड-मिस्ट्रेस है। मेरी चिन्ताधारा बदल गई। मैं आनन्दमय चिन्ता-सागर की लहरों में उछलने लगा। मुझे लगा कि मेरे लिये भी कोई ग्राहक है।

उस रोज मुझे लगा कि बालक-बालिकाएँ शादी के नाम से कितने खुश होते हैं। उसका क्या कारण है? दुनियाँ में यह कितना मधुर शब्द है, आनन्द का माध्यम है। परस्पर अन्तर की छिपी भावनाओं से मौन बातें कराता है। मीठा संबंध बैठाता है। मैंने श्री रामसुख जी भारती को लिखा--

आप मुझसे परिचित हैं। मेरी हालत के जानकार हैं। न घर है, न द्वार, किसी प्रकार का झूठा प्रलोभन कदापि किसी को न दें। मुझे आप लोगों की बातें पसन्द नहीं है। अगर ऐसा मौका आयेगा तो मैं खुद बातें करूंगा। अपनी हालत उस देवी के समक्ष रखूंगा। अवश्य, इस पर भी अगर कोई मेरा साथ दे, तो मैं उसको देवी मानूंगा और सिर्फ दिल दे सकूंगा। परन्तु बिना मेरी जानकारी प्राप्त किये कभी किसी को पक्की बात मत दीजिये, अन्यथा अनुताप के सिवा कुछ हाथ नहीं लगेगा। मैं मानूंगा कि आप लोग मेरे सुख शान्ति में बाधक हैं।

पत्र छोड़ दिया। मन ने कहा--पत्र तो ऐसा लिखा है मानो धर्मराज के नाती और इन्द्र के उत्तराधिकारी हो। ऐसा लगता है, उस महिला को तुम्हारे सिवा और लायक आदमी ही नहीं मिलना है।

दिमाग में धक्का लगा तो अक्ल जागी। लेकिन अब हो ही क्या सकता था? बीती ताहि बिसारदे, आगे की सुधि लेई, कौन है? रामसुख जी ने उनका परिचय भी नहीं लिखा है। कम से कम मुझसे एक बार मिलाकर परिचय तो करा देना

उचित था। न मालूम दुबेजी ने इस सप्ती को क्या पाठ पढ़ाया है?

लेकिन, अगर शादी हो जाती है तो बुरा नहीं है। यह मन का तर्क था; पर बुद्धि में जिज्ञासा थी कि यह है कौन? जो मेरे मनःस्थल हिय में हरा-भरा उद्यान बनाने की कोशिश में है।

रामसुखजी का कोई पत्र नहीं मिला, इसलिये मैं फिर निश्चिंत हो गया। मेरा निश्चय हो गया कि अगर शासन में ये पण्डित लोग न हो कर कोई सबल कम पढ़ा-लिखा होता तो काम उत्तम होता। ये तो सोचते होंगे रेल से चलेंगे, और गाड़ी किसी पुलसे नीचे गिर जाये तो? नहीं, मोटर से चलें। परन्तु किसी दूसरे ट्रक से टकरा जाय तो? नहीं, वायुयान ठीक है। परन्तु वायुयान ऊपर से नीचे गिर जाय तो? इत्यादि इत्यादि इसी तरह के कुतर्क में काल यापन करते हैं। कहते हैं, सोचा जा रहा है। दो सौ साल शासन किया है अंग्रेजों ने। अंग्रेजी के प्रचलन में न तो किसी से पूछा, न जनमन की परवाह की न कल की सोचा। और आज ऐसा वायुमण्डल कर दिया है कि सारे नेता उसी रागमें अपना राग मिला रहे हैं।

एक दिन दोपहर के समय रामसुखजी आ गये। वे इस प्रकार व्यस्त थे मानो अपनी बहिन की शादी में हो व्यस्त हों। बोले—पण्डितजी, लड़की बड़ी सौम्य सुन्दर है। एम० ई० बालिका विद्यालय छत्रपुर की हेड-मिस्ट्रेस है। आप हाँ करें, तो मैं उसके घरवालों से मिलूँ। मुझ पर भरोसा कीजिये।

मैं—तब कोई बात नहीं है। लेकिन मेरी हालत प्रथम प्रकाश कर दीजिये। ऐसा न हो कि फिर दोनों को अनुताप करना पड़े।

रामसुख जी—अभी तक कोई जानता नहीं। मैंने सिर्फ उसी महिला से बातें की हैं, सो राजी है। वह आपको जानती है।

मैं—कैसे? मैं तो नहीं जानता।

रामसुख जी—पर वह आपको जानती है। ऐसे भी बहुत हैं जो आपको जानते हैं आप उनको नहीं जानते, और जानते भी होंगे तो याद नहीं होगी, भूल गये होंगे। पर समय पर जान जायेंगे। हाँ, भर कहिये।

मैं—हाँ कहा। लेकिन पूर्ण मत परिचय जानने पर!

रामसुख जी—अच्छा, कोई बात नहीं है। आज रात को चला जाऊँगा। उससे साफ बतला दूँगा।

वे चले गये। मुझे रात भर नींद नहीं आई। शादी की प्रसन्नता, और आनेवाली घरेलू मुसीबत का ताण्डव दोनों आपस में नृत्य करने लगे। लेकिन इतना था कि साथ-साथ नृत्य करते थे, परन्तु परस्पर टकराये नहीं।

मैं काफी राग की पंक्ति बोला—

"आज क्यों मधुर ध्वनि आती है?

मुलुर-मुलुर लखती गुलाब की कलियाँ मुस्काती हैं।"

दूसरे रोज वर्धा से पत्र मिला—आप जाकर ब्रह्मपुर केंद्र की राष्ट्रभाषा रत्न की मौखिक परीक्षा लीजिये।

मैं तो चाहता ही था। मुझे स्वीकार है, लिख दिया। ७ दिन के बाद ब्रह्मपुर जा पहुँचा। १० परीक्षार्थी थे। जिनमें ३ लड़कियाँ थीं। सबकी परीक्षा ली। पूछा—सबों ने कुछ कुछ कहा, लेकिन एक ने कुछ भी नहीं कहा—उसका गला ही नहीं खुला। ५ मिनट के प्रश्न के पश्चात उसे चले जाने के लिये कहा।

रामसुखजी से कहा—अमुक परीक्षार्थीनीने एक शब्द भी नहीं कहा—वह फेल होती है।

रामसुखजी—पण्डित जी, वही सबसे सुन्दर हिन्दी बोलती है। वह जबलपुर के पास नयनपुर की रहने वाली है। राष्ट्रभाषा रत्न के प्रश्न पत्र भी इसने अच्छा ही किया है। पास कोई रोक नहीं सकता। ऐसी दशा में मौखिक में उसे क्यों रोकेंगे?

मैं—लेकिन, उसने कुछ भी नहीं कहा—

रामसुखजी—वह लजा गई है।

मैं—तो मौज करे, भोगे।

रामसुख जी मुस्कराये, वह आप से इस समय लजाती है। दूसरा कोई बातें करे तो देखे उत्तर देती है कि नहीं?

मैं—तो मुझे क्यों बुलाया? दूसरे को ही बुला लिया लेता।

रामसुखजी—सो तो दुबेजी जाने।

मैं—तो इसको फेल होने दो, अक्ल आयेगी।

रामसुखजी—मेरे कहने से नम्बर दे दीजिये। आपके

नम्बर उसकी परीक्षा को नहीं रोकेंगे। लेकिन ६ मास के लिये प्रमाण-पत्र रुक जायेंगे।

'अच्छा' कह मैंने ५० नम्बर दे दिये।

परीक्षा खत्म होने के बाद रामसुखजी ने कहा—कन्या देख तो लिया है न?

मैं—नहीं तो, कहाँ है?

रामसुखजी—यही तो है जिसको कम नम्बर दे रहे थे।

मैं कुछ बोल नहीं सका। थोड़ी देर चुपचाप बैठा रहा।

रामसुखजी—तो, आखिरी फैसला कीजिये।

मैं—मुझे मंजूर है। लेकिन कोई बात छिपाओ मत, और मैं पैसा नहीं खर्च करूँगा।

रामसुखजी—वह ईसाई है। हिन्दू मत से भी शादी करने को राजी है।

मैं—लेकिन मुझे यह भी पसन्द नहीं, अपना-अपना मत सब माने, राम रहीम को मालिक जाने। रजिस्ट्रेशन से शादी हो।

रामसुखजी—कल ही मैं उससे पूछकर १४ दिन की नोटिस दिलवाये देता हूँ।

मैं—अब जो जी में आये कीजिये। मुझे एतराज नहीं है।

शादी के दिन

रजिस्ट्रार को लिखित सूचना दे दी गई। तारीखें नियत थी। समयपर जाना चाहिये। इधर मैंने श्रीराजकृष्ण जी बोष को सारी घटना कही और शादी में उपस्थित रहने के लिये कहा। श्री बनमाली पटनायक उस समय काँग्रेस मंत्री थे। उनसे भी चलने के लिये कहा। शाम के समय जीप से निकले। लगभग १२ बजे पहुँचे। रामसुख जी व्यस्त थे। उनके कार्यक्रम के अनुसार मुझे दोपहर को चल कर शाम को पहुँच जाना चाहिये। पर देर होने के कारण वे चिन्तित थे। जब पहुँच गये तो वे निश्चिन्त हुए।

दूसरे श्रीयुत विश्वनाथ दास जी को खबर दी। वे बहुत खुश हुए। शरबत पिलाया। इस बीच श्री रामलिंगम जी और आई० राममूर्ति जी को खबर दी। राजकृष्ण बाबूकी कन्या कुमारी मीरा को साथ लेकर पहुँचे। बनमाली बाबू तो आगे ही जा चुके थे।

लगभग ४ बजे सब-रजिस्ट्रार आये। और अपने छपे अंग्रेजी मंत्रों को पढ़ सुनाया। हम दोनों ने पारी-पारी से दुहराया ५ मिनट में सारा काम खत्म। पं० रामलिंगमजी ने वेद मंत्र से आशीर्वाद दिया। विश्वनाथ जी ने भी आशीर्वाद दिया। कारण, उनकी भविष्यवाणी सफल हुई। भविष्यवाणी तो क्या, रोज-रोज का कथन सफल हुआ।

स्थानीय तीन महान व्यक्तियों का समागम बड़ा ही मंगलकर हुआ। जीवनमें यह एक आवश्यक कार्य बाकी था, सम्पन्न हो गया, दूसरे दिन भोर हमने राजकृष्ण बाबू की मोटर में वधू को लेकर चले आये। अब वह पत्नी थी। मुझे यह सत्य, शिव और सुन्दर काम लग रहा था।

कटक आये तो अनेक महिलाओं ने तथा छात्रों ने वधु का स्वागत किया। यहाँ माँ, बहनें तो थी नहीं। वे ही यहाँ सब कुछ थीं। यहाँ की जो रस्म थी, पूरी हुई।

एक बड़े भोज की व्यवस्था हुई। निमन्त्रण पत्र में सभापति श्री विचित्रानन्द दास और मंत्री श्री राजकृष्ण बोष की सही थी। भुवनेश्वर से बढ़िया महाप्रसाद आया, लोगों ने सानन्द रुचिपूर्ण भोजन किया और वर-वधू को आशीर्वाद दिया।

मेरी शादी से लोग भी कितना खुश हुए, यह एक आश्चर्य की बात थी। मैंने इस प्रेम के कारण और मातृपूर्ण हमदर्दी के लिये सभी को हार्दिक धन्यवाद दिया।

आज से मेरा गृहस्थ जीवन शुरू होता है। मैं आज निशंक, नि:संकोच और नीरव एकान्त में बातें कर सका हूँ। नाम तो शाम के समय हवन करते—बिटानी से श्रीमती विनीता पाठक कर दिया गया था। वह सबल, सुडौल, सुन्दर गुड़िया-सी मुझे बहुत प्यारी लगी। मैंने सोचा—कितना अपूर्ण जीव न था मेरा ! और दुबेजी तथा रामसुखजी को धन्यवाद दिया।

धीरे-धीरे वह मुझे समझने लगी। रामसुखजी ने उसे बतला दिया था कि पण्डितजी जरा क्रोधी हैं। अत: जब नाराज

हों, चुप लगा जाना। बस काम फतह।

मुझे खद्दर पहिनते देख विनीता ने कहा—मैं भी खद्दर पहिनूँगी। अन्यथा लोग क्या कहेंगे ? और सुन्दर भी नहीं दिखेगा कि पति खद्दर पहिने और पत्नी मील के कपड़े पहने। उसके लिये भी खद्दर की साड़ियाँ आईं। वह खद्दर पहिनने लगी।

मैंने देखा कि थोड़े ही दिनों में वह मेरे हिन्दी काम का सहायक बन गई। अक्षर तो ओड़िया, हिन्दी और अंग्रेजी के सुंदर हैं ही। कापी करना, अनुवाद करना, और प्रूफ देखना आदि काम उसने अपना लिया। इसके अलावे घर का काम भी सभी उसके जुम्मे मैंने छोड़ दिया। वह मेरा लंगर नहीं बनी, बल्कि जहाज के चलाने में कोयला गेरने का काम करने लगी।

इसका नाम है, भाग्य ! जिस काम के लिये लोग मास-मास तैयारी करते हैं, झूठ-मूट की बड़ाई करते हैं, वही काम मेरे लिये कुछ घण्टों का बना था। और फिर मैं घाटे में नहीं था। मुझे जैसा चाहिये था उससे अधिक मिला।

मेरी शादी जून १६५२ तारीख १२ बुधवार को हुई थी। और गुरुवार को भोर साथ लेकर चला आया। ३-४ मास तक इष्ट-मित्रों का मुख मीठा करना, भागकर जोर-जबरदस्ती से खिलाना ही पड़ता।

इस सारे कामों में मेरे दिलमें एक जोर का धक्का लगा। जिसे मैं सम्भाल नहीं सका। आँखों में आँसू आ गये; वह थी मेरी माँ की याद। मैं छोटा था, मेरे भाई मुझसे भी छोटे

थे। बीच में माँ स्वयं सोतीं और एक बगल में मुझे तथा दूसरी बगल में और तीनों को सुलाया करती। कहतीं—"दद्दू जब और बड़ा हो जायगा तो उसकी शादी होगी, मैं गाना गाऊँगी। छोटी-सी बुटुनियाँ घर आयेगी, मैं उसे प्यार से रखूँगी।" न मालूम उसकी कितनी मधुर कल्पनाएँ थीं। कितने गाने गाती, कहानी सुनाती। उस रोज एकान्त में उसकी सारी बातें मुझे एक के बाद एक याद आती रही है। मैं उनको स्मरण करते आसुओं का अर्घ्य देता रहा। विनीता को अपनी ओर आता देख आँसू पोछे। उसने पूछा—क्या करते हैं?

मैं—कुछ नहीं, एक कहानी लिखने की सोचता हूँ।

विनीता—तो लिख डालो, मैं जाती हूँ।

मैं—नहीं, नहीं। वह कहानी तुम्हारे सामने रहते ही लिखी जायेगी, अन्यथा अधूरी रह जायेगी।

विनीता—क्या कहानी है?

मैं—तुम्हारी और मेरी शादी की।

वह चुप रह गई। मैंने फिर पूछा—अच्छा, मुझे पहले जानती थी?

विनीता—नहीं! उसी रोज परीक्षा मंत्री जी के साथ पहली बार ही देखा था।

मैं—और पहली मुलाकात में ही चली आई? फिर मैंने कौतुहलवश पूछा—इस कथा का श्रीगणेश कैसे हुआ?

विनीता—रामसुख जी से मैं पढ़ती थी। प्रवेश से लेकर राष्ट्रभाषा रत्न तक पढ़ी। वे मुझे बहुत मानते हैं। शायद

कोई अपनी छोटी बहन को भी इतना नहीं मानता होगा। जब आप लोग चले गये, मुझसे पूछा—बिटानी एक बात मैं तुमसे पूछता हूँ—बचन दो कि तुम नाराज न होगी, और अपने दिल की बात साफ साफ कह दोगी।

मैंने कहा—क्या बात है? मैं पहले सुनूं तो।

रामसुख जी ने कहा—मेरी इच्छा है कि तुम पण्डितजी के साथ शादी कर लो। कहो, क्या विचार है?

मैं चुप थी। क्या उत्तर देती। मैंने जिस बात पर कभी चर्चा नहीं की, न उन्होंने ही कभी बातें उठाई थी। आज हठात् इस प्रश्न का मतलब? यह मेरे लिये उहापोह का विषय बन गया। मैंने जोर समेट कर कहा—मैं माता से पूछूँगी। मेरे पिता हैं, और लोग भी हैं।

रामसुख जी—नहीं माता से मैं पूछूँगा, तुम नहीं। लेकिन सोच कर मुझे अपना विचार बतलाओ, कोई जल्दी नहीं है। २-४ दिन बाद कहो। उनकी उम्र ४० से ऊपर है।

मैं चुपचाप सुनती रही पर क्या कहते हैं, स्मरण न रहा। मैं इस प्रश्न का क्या उत्तर दूं? यही सवाल मेरे हृदय में चक्कर मार रहा था।

जब मैं फिर दूसरे दिन आई तो हँसते हुए पूछा—क्या सोचा है तुमने?

मैंने कहा—हाँ!

रामसुख जी साश्चर्य बोले—तो तुम शादी करने को तैयार हो?

मैं—हाँ !

रामसुख जी मारे खुशी के खड़े हो गये। बोले—शाबास, बहुत उत्तम, बहुत उत्तम। तुमको मालूम नहीं कि मैं कितना खुश हूँ। मुझे ऐसा लगता है मानो मैंने अपनी छोटी बहिन की शादी ठीक कर ली हो। यह कह कर अपनी कन्या प्रभा को बुलाया—अरे प्रभा, ओ मेवा लेजा बिटानी को कुछ नाश्ता पानी करा।

मैं घर गई तो माँ ने आँसू पोंछते हुए पूछा—बिटानी, तूने मुझसे बिना पूछे शादी ठीक कर लिया है। मेरे सामने यह बड़ी असमंजस बात थी। मैंने अपराध किया है कि माँ से कहा नहीं और उधर रामसुख जी से हाँ कर आई। अब करूँ तो क्या करूँ। 'न' करूँ तो किस मुख से? फिर जोर लगाकर कहा—माँ, तू कहेगी तो मैं मना कर दूंगी। यह तो केवल रामसुखजी, तेरे और मेरे सामने की बात है।

माता चुप हो गई, मुझे लगा कि मेरी बातों ने माँ को छू लिया है। मैं फिर कुछ बोली नहीं। घरके धंधे में लग गई।

थोड़ी देर बाद रामसुख जी आ गये। माँ के साथ बातें करते रहे। मैं उनमलीसे भी नहीं। न मालूम क्या क्या बातें हुई। लेकिन माँ अब खूब प्रसन्न दिखीं, मुझे पूर्ण विश्वास हो गया कि वे राजी हैं।

घर में लक्ष्मी का आगमन

विनीता गुरुवार को हमारे घर आई। गुरुवार लक्ष्मी का वार माना जाता है। जब से आई, मेरे काम का सहारा रही। राष्ट्रभाषा भवन बनने लगा। आधा बन कर तैयार हो गया। कार्यालय उसमें चला गया और जो स्थान कार्यालय का, मेरे रहने का, पुस्तकालय, अतिथिशाला और प्रेस कार्यालय का था, सब मेरे व्यवहार में आने लगा।

एक साल बाद वह माता बनने वाली है। मैं भी अनुभवहीन था। फिर भी जानकार लोग जैसा कहते वैसा होता। नियत तिथि के अनुसार डाक्टर के पास हस्पताल जाया करती। एक दिन की शाम को उसकी परीक्षा ली गई। डाक्टर ने कहा—बहुत अच्छी अवस्था में हैं। १५ दिन के भीतर बच्चा जन्मेगा। उसी रात को पेट में दर्द हुआ। हमारे साथी श्री बनमाली मिश्र 'विशारद' की पत्नी लेकर हस्पताल गई। प्रथम तो जगह ही नहीं मिली। जब जरा ऊपर का प्रभाव लाया तो १२ बजे तक यों ही तड़पते रहने दिया गया। १२ बजे देखा गया और आपरेशन रूम में ले गये। बच्चा निकाला और कह दिया—यह तो एक मास पहले ही पेट में मर गया था।

माता का दिल था। वह अपने सारे दर्द को भूल गई। उसके दिलकी करुण वारिधारा नयन पथ से बह निकली। मैं जब उस के पास गया तो झट मुख छिपा लिया।

वह बड़ा ही हृदय विदारक दृश्य था। मुझे बच्चे की मृत्यु से इतना दुख नहीं हुआ था जितना की डाक्टरों के विज्ञान से। मेरा बस न था। बिना दिखलाये बच्चे को न जाने कहाँ फेंकवा दिया था। पास ही ४०–५० खाटें थी। किसी में नवजात बच्चे रोते हैं तो २–३ खाट में माताएँ रोती हैं। माँ के लिये यहाँ रखा जाना और भी मृत्यु है।

खेल यहीं खत्म नहीं हुआ। खून परीक्षा का नम्बर आया। डाक्टर के पास फिर गये। दोनों की खून परीक्षा हुई। मेरा साफ, पर विनीता के खून में दोष थे। अब लगे सुई छीदने। ८० लाख पेनेन्सिलिन तथा १०–२० करके दो अन्य। बीचबीच में बुखार आ जाता। खुद डाक्टर कहता, इस इन्जेक्शन में बुखार तो नहीं आना चाहिये। जो भी हो—सारे शरीर में सुइयाँ चुभीं। खतम होने के बाद फिर खून परीक्षा ली गई। उत्तर मिला—अभी भी तो ४० प्रतिशत दोष है।

मैंने कहा—इतने परिश्रम के बाद १० प्रतिशत ही कम हुए हैं। मुझे ऐसा लगा कि इन डाक्टरों को गोली मार दी जाय।

मैंने डाक्टरों की दवा बन्द करा दी। होमियोपैथिक डाक्टर शेख सिराजुद्दीन के पास गया। वे सारा हाल सुन कर बिगड़े। बोले—आपसे मेरा इतने दिनों का परिचय है। आपने मुझे आज तक खबर तक नहीं दी। डाक्टरों के पास तो जाना ही नहीं था। अस्तु

उन्होंने दवा देना शुरू किया। और विनीता स्वस्थ हो

गई। लेकिन, उसका वह शरीर नहीं फिरा जो शादी के समय था।

मैं अपने जानकारी की, ज्ञान की बातें कहता। गीता, रामायण की कथा कहता। वशिष्ठ और विश्वामित्र के युद्ध की चर्चा करता—किस प्रकार वशिष्ठ के सौ पुत्र मारे गये। लेकिन, माता अरुन्धती ने उफ तक नहीं किया था। लेकिन आज यह कहने की बातें होती हैं। कवि ने उसे लिखा है—हम लोगों ने पढ़ा है। लेकिन आज भी कवि माखनलाल चतुर्वेदी की कविता पढ़ते हैं—"मेरे अगना दोनों आये, यशोदा सुत मम लाला, मैं तो प्रथम गोदमें लूंगी, अपना प्रसव कसाला।" इस ब्रह्ममय ज्ञान का पता माताएँ ही लगा पाती हैं। वही इसकी अधिकारिणी भी हैं।

विनीता मेरी संगिनी सच माने में निकली। सभा के कार्यों में रत रहती, टाइप करती, प्रूफ देखती। यहाँ तक कि मैंने देखा है रात १२–१ बजे तक जरूरी प्रूफ देख कर ही सोती। तब तक मैं एक गाढ़ी नींद ले लेता।

राष्ट्रभाषा प्रचार सभा का काम बढ़ने लगा। मुझे विनीता को पाकर अत्यन्त खुशी है कि उसने कभी भी नहीं कहा कि अपनी चिन्ता भी करो। दोनों ही फक्कड़ निकले।

उसने फिर बेटी का जन्म दिया। उसकी खोई प्रसन्नता जागी। बिटिया इन्दु का जन्म भी हमारे कार्य की उन्नति के लिये रहा है।

सभा प्रकाशन, खास कर स्कूली पुस्तकों का प्रकाशन—

मेरी सूझ है, श्रम है। उससे सभा को लाखों की आमदनी हुई है। सभा पूरा का पूरा लाभ लेती है। उससे लेने की चिन्ता मैंने कभी भी नहीं की और न विनीता ने ही उससे कुछ लेने का परामर्श दिया है। मेरा ख्याल है कि सभा की आमदनी से ही सभा का कार्य चले। सो आज सभा की २।--२।। लाख के लगभग सम्पत्ति है।

विनीता अब प्रेस से पारिश्रमिक लेकर काम करती है। परन्तु सभा प्रकाशन का प्रूफ देखना, टाइप करना आज भी वह मुफ्त ही करती है।

मेरे हाथ में आज दो संस्थाओं का भार है। एक प्रचार सभा का और दूसरे प्रेस का। प्रेस दिन-ब-दिन उन्नति करता जा रहा है। उसमें नई नई आवश्यकताएँ आती हैं और पूर्ण होती जाती हैं। इसकी उन्नति की चिन्ता में मेरे साथ मैनेजर श्री गोपीनाथ साहू का भी दान है।

मेरी इमानदारी व्यापारियों में काम कर गई है। मैंने कपूर साहेब से कह रखा है कि जो कमीशन तुम अपने दलालों को देते हो, उसको बाद देकर दाम कहना। और मुझे विश्वास है कि वे वैसा ही करते हैं। १।।–२ लाख का माल उनके पास से आता है। ५–१० हजार का माल उधार भेज देते हैं।

मेरे साथ साथ कलकत्ते के कामों में श्री ठाकुर अयोध्या सिह का श्रम भी प्रशंसनीय है। जब जब मैं कलकत्ते जाता हूँ, उनके बगैर मैं एक पग भी आगे नहीं बढ़ाता। और फिर जिस प्रकार वे कलकत्ते की गली-गली से परिचित हैं, मैं नहीं हूँ। बड़ा

बाजार और धर्मशाला यही मेरे लिये परिचय के स्थान हैं।

प्रेस का जितना भी माल आया है वे साथ थे। परन्तु उन्होंने कम्पनी से एक अधेला भी कभी नहीं माँगा। जब कि मेरे प्रथम साथी ने ५ सौ रुपये कमीशन बाबत उसी दिन चुपके से माँग लिये थे।

यह उन्हीं के उत्साह का फल है कि आज ४० हजार रुपये में डी० सी० अटोमेटिक प्रेस लाया गया है। जो ओड़िशा भर में नहीं है। उसका चालक है मिल्ही-मशीन का चालक विप्रचरण। मुझे गर्व होता है इन सबको बढ़ते देखकर और इस बढ़ती को पीछे से उसकाने वाले हैं प्रेस के मैनेजर श्री गोपीनाथ साहू।

राष्ट्रभाषा का प्रचार

मैंने एक बात सोची--वह है सभा की साहित्यिक रजत-जयन्ती मनाने की। उस समय उत्कल का पूर्णाङ्ग परिचयात्मक एक विराट ग्रंथ निकालने की भी सोची। यह ग्रंथ ऐसा हो जैसा कि अभी तक कहीं प्रकाशित न हुआ हो।

राष्ट्रभाषा का आग्रह अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों में कम होने लगा। स्वाधीनता मिलने से पहले अंग्रेज जायेंगे साथ में अंग्रेजी जायेगी--जो यह क्रांतिकारी भावना लोगों में काम कर रही थी, मिट गई। या मर गई। इस काम में अगुआ बने श्रीराजगोपालाचार्य। एक समय राष्ट्रभाषा के पूर्ण समर्थक थे। दक्षिण भारत राष्ट्रभाषा प्रचार सभा के आजन्म सभ्य हैं। उन्होंने ही यह नारा लगाया कि अगर हिन्दी राष्ट्रभाषा होगी तो हिन्दी वाले अधिक संख्या में नौकरी पायेंगे। इसलिये राष्ट्रभाषा अंग्रेजी ही बनी रहे। लोग चौंक उठे। लोगों ने सोचा कि हमारी रोजी जायेगी। अंग्रेजी बनी रहे। इसीसे हमारा मंगल है। हिन्दी जाननेवालों की संख्या अधिक है। अहिन्दी प्रांतों में अधिक लोग हिन्दी जानते हैं। इस प्रकार से वे लोग फिर हमारा सम्मान क्यों करेंगे? अभी तो जो हम कहते हैं वही होता है। इने गिने लोग हैं। हम मजे में हैं।

राष्ट्रपति पद पर राजी थे। उनकाजा काम संतोषजनक नहीं था। वे गालू अधिक हं, अधिक बोलते हैं। पण्डित हैं,

ज्ञानी हैं, उनका उत्तम अध्ययन है, बुद्धिमान हैं। लेकिन उनकी बुद्धि देश के काम में, गठन में, बनाने में नहीं लगती; क्षुद्रान्वेषी हैं। उनका दिल शास्त्रों के उत्तम गुणों से ओतप्रोत नहीं है। अन्यथा सब नेताओं से वयोवृद्ध राजाजी गान्धीजी का आसन ले सकते थे।

राजाजी हिन्दी के प्रचार में सर्वप्रथम आये थे। प्रचार में अपना तन-मन-धन दिया। एक हिन्दी प्रचारक देवदास गान्धी को अपनी लड़की तक दे दिया। फिर भी आज हिन्दी पर कुठाराघात करने में लगे हैं। मैंने कई बार लिखा है कि राजाजी शासन के लोभी हैं। वे देश को टुकड़े टुकड़े कर देना चाहते हैं। देशकी एकता के वे एक बड़े विष वृक्ष हैं। अन्यथा वे अपनी मातृभाषा की उन्नति के लिये कह सकते थे। "हिन्दी न होकर तामिल राष्ट्रभाषा हो" का नारा लगा सकते थे। लेकिन अंग्रेजी को ही राष्ट्रभाषा बनाये रखने का आग्रह अंग्रेजी शासकों के प्रति झगड़ा, साम्राज्य के प्रति अक्षुण भक्ति प्रगट रूप में प्रकाशित की जा रही है। यह नारा आज हिन्दी का है, कल यही नारा 'अंग्रेज राज्य अच्छा है' का करेंगे। 'हमें राजेंद्र, जवाहर का शासन पसन्द नहीं है' का नारा लगायेंगे, कौन कह सकता है?

राष्ट्रभाषा राष्ट्र की सम्पत्ति है। वह किसी भी व्यक्ति, प्रांत की भाषा नहीं है। राष्ट्रभाषा वही हो सकती है, जिसे सर्व जनप्रियता प्राप्त हो। अधिक लोग जानते हों। हिन्दी को छोड़ कर भारत की अन्य भाषाएँ उसके मुकाबिले में नहीं उतरेंगी। सारे भारत की संस्कृति के साथ हिन्दी का घनिष्ट सम्पर्क बना

हुआ है। इन सारी बातोंको सोचकर गान्धीजी ने राष्ट्रभाषा हिन्दी ही का नारा लगाया साथ-साथ भारत के सभी नेताओं ने सोचा, विचारा और माना है। उसमें उन लोगोंने गलती नहीं की है, न जल्दबाजी की है। इतना होने पर भी स्वार्थरत हो राजाजी ने खिलाफत किया है। हालांकि राष्ट्रभाषा का निर्णय मौजूदगी में हुआ है। उसमें उनके मत का निशान है।

भारत का संविधान बनाने वालों ने गलती की है। जिनके हाथ में इसका भार दिया गया था, वे न तो राष्ट्रीयता के पृष्ट-पोषक थे और न हिन्दी ही जानते थे। जिनके दिल में जरा भी राष्ट्रीयता रहेगी, देश, जाति तथा अपनी आर्य परम्परा पर अभिमान होगा, प्राचीन उन्नतमयी गाथा को सर्वोत्तम मानते होंगे, भारत के पीछे का इतिहास जिनको मुग्ध किया होगा, वे भला कभी यह कह सकते हैं कि भारत में विदेशी भाषा चलती रहेगी १५ वर्ष तक। और फिर वह भाषा जो भारत को गुलामी की जंजीर से जकड़े रहने में प्राणप्रण से सहायक थी, और आज भी है। यह अनुभव की बात है। इसका अनुभव सर्व प्रथम राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी जी ने किया था और बाद में और कोई। हम जैसे कितनों ने यह एक नालायकी का सबूत सामने ला खड़ा किया है कि हम स्वराज्य के लायक नहीं हैं। आज वे अंग्रेज शासक अपनी भविष्यवाणी पर खुश होते होंगे, जिन्होंने सर्व प्रथम यह आवाज उठायी थी कि भारत अभी स्वराज्य के योग्य नहीं हुआ है। भाषा को लेकर भारतीय नेताओं ने अपनी नाराजी ठीक प्रगट की है और असुन्दर

ढंग से।

जो हो, भारत का संविधान बन गया। अंग्रेजी १५ साल तक भारत राष्ट्र की राष्ट्रभाषा बनी रहेगी। तब तक भारतीय अपनी तैयारी कर लें। असल में यह फिसाद निकाला था राजाजीने और उनके साथ 'हुआ-हुआ' चिल्लाये आई० ए० एस० अफसरोंने। उन्हींकी लीला चली। आजतक राष्ट्रीयता के नारे लगाने वाले नेता भी अन्धे बन गये हैं। उनकी हाँ में हाँ मिलाने लगे। काम की बात सोचने लगे। वे भी कहने लगे भारतीय भाषा में विज्ञान नहीं है, साहित्य नहीं है, दुनिया में अंग्रेजी चलती है। आदि आदि

जो जो बाहर गये हैं, लज्जित हुए हैं। विदेशियों ने कितनी भारतीय अंग्रेजी कथकों को चलती राह ठोकरें लगाई है। लोग दाँत निपोर कर कहते—हम अंग्रेज़ी हीं जानते हैं। रूस ने धिक्कारा, चीन ने धिक्कारा, जापान ने धिक्कारा, लेकिन हम भारतीय कोमल कमल-पत्रवत हैं। जरा भी वह अपमान का दोष छू नहीं गया। आकर कहानी सुनाते हैं, लेकिन अंग्रेजों की दुहाई देते हैं।

ऐसी ही एक अमेरिकनों की कहानी श्रीयुत श्याम सुन्दर मिश्र जी ने कही थी। लेकिन, वे सब से ज्यादा अंग्रेजी के भक्त हैं। उनका ही सिर्फ दोष है, सो बात नहीं। बल्कि 'भारत सेवक समाज' में जितने सभ्य हैं। पं० हृदयनाथ कुंजरू तक अंग्रेजी के गुलाम हैं। फलस्वरूप मेरे दिल में पूज्य गोखले जी के प्रति जो श्रद्धा थी, इन अंग्रेजी-भक्तों ने हरण कर लिया है।

मेरा मत है कि वे लोग स्वाधीनता के प्रेमी नहीं हैं, किताबी कीड़े हैं। जोश कम है। यही बात लोक-सेवक मण्डल में भी है। सभी साथी अंग्रेजी का उपयोग करते हैं। जो हम यहाँ देखते हैं, उनसे यही मनोभाव पैदा होता है। लेकिन, इसमें श्री लक्ष्मी नारायण साहुजी एक अपवाद-स्वरूप हैं। पार्लियामेंट में भी वे एक आदमी थे जो कि अपनी हिन्दी में बोलते रहे हैं। उनका काम काम के लिये होता है, दिखाने के लिये नहीं होता। वे ही एकमात्र आदमी हैं जिनकी लालसा यह कदापि नहीं होती कि मैं भी कुछ बन जाऊँ। सच्चे माने में एकमात्र लोकसेवक हैं। लेकिन 'सर्वेण्ट आफ इण्डिया सोसायटी' में मुझे एक भी आदमी ऐसा नजर नहीं आता है। हो सकता है ज्ञानी हों, पण्डित हों लेकिन जो पण्डित लोक-सेवा में न आये, वह एक खर भार-वाहक के सिवा और क्या होता है। उसको चन्दन की गन्ध का ज्ञान तो नहीं हो रहा है।

मेरा ही मत नहीं, बल्कि गान्धी जी का मत है कि हिन्दी ही एकमात्र हिन्दुस्तान में भाषा है, जो कि सभी को एकता सूत्र में बाँध सकती है। बिना इसके सारा स्वराज्य अधूरा रहेगा। जो स्वाधीनता को अनुभव करते हैं, उनको भारतीयता का सच्चा ज्ञान नहीं है। यह कदापि हो नहीं सकता कि विदेशी भाषा भारत में राष्ट्रभाषा हो कर टिकी रहे।

हिन्दी शिक्षा और अंग्रेजी भक्त

१९४७ में हमने गंजाम डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के सभापति श्रीयुत दीनबंधु बेहेरा, बी० ए० के समक्ष यह प्रस्ताव रखा कि डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के अन्दर जितने हाईस्कूल हैं, एक जगह लाकर उनको हिन्दी शिक्षा दी जाय। सीख कर जब वे जायें और अपने-अपने स्कूलों में हिन्दी पढ़ाने का काम करें तो उनको हाईस्कूल के १० रु० और मिडिल स्कूल के लिये ५ रु० अधिक वेतन दिया जाय।

सभापति जी ने इसको मान लिया। सभी अध्यापक गरमी के दिनों में २ मास के लिये आये। इस केंद्र को चलाने का भार श्री वनमाली मिश्र 'विशारद' पर रखा गया था। यह काम खूब सफल रहा। वर्धा से परीक्षा लेने पं० रामेश्वर दयाल दुबे आये। उत्कल से भी प्रधान मंत्री श्री हरेकृष्ण महताब, पं० लिंगराज मिश्र, शिक्षा मंत्री जी गये। श्री विश्वनाथ दास जी भी उस दीक्षांत समारोह में शामिल हुये थे।

यह उत्साह भी आनन्द वर्द्धक था। इस काम को सब लोगों ने अच्छा माना। और इसको आदर्श मान कर काम करने के लिये सभी जिलों को संबोधन किया गया।

नियमानुसार रु० १० रु० ५ भी स्कूलों में हिन्दी पढ़ाने वालों के लिये मिला। लेकिन, इन अंग्रेजी के अफसर की बुद्धि से भगवान ही बचाये। आपत्ति उठी कि यह काम बिना

वजह का है, नियम विरुद्ध है। हिन्दी सिखाने के लिये पैसे क्यों खर्च करें। हम तो उतने ही घंटे काम लेंगे। चाहे हिन्दी पढ़ायें या ओड़िया, संस्कृत। फलस्वरूप काम बन्द हो गया। कैसी बुद्धि थी! लोगों के उत्साह पर पानी फिर गया। अफसर तो इसको अपनी विजय मानने लगे थे कि हमने हिन्दी बन्द करवा दिया।

सन् १९४८ में भी काँग्रेस सरकारें थीं। प्रधान मंत्री थे हरेकृष्ण जी महताव और शिक्षा मंत्री थे पं० लिंगराज मिश्र। सभी ने उनके सामने फिर यह योजना रखी कि ओड़िशा के सभी स्कूलों में हिन्दी शिक्षक रखने तथा जल्दी काम शुरू करने के लिये यह जरूरी है कि सभी स्कूलों से गरमी की छुट्टियों में एक एक शिक्षक बुलाया जाय। उनको २ मास की हिन्दी शिक्षा दी जाय।

शिक्षा मंत्रीजी को यह योजना पसन्द आई। प्रांत भर में ८ शिक्षण केंद्र खोले गये। इन आठ केंद्रों में लगभग साढ़े चार सौ हिन्दी शिक्षक आये। बहुत सुन्दर उत्साह था। सरकार भोजन खर्च के लिये ४० रुपये प्रत्येक को वृत्ति दे रही थी। सरकार और छात्रों में समान उत्साह था। लोग समझने लग गये थे कि अब अंग्रेजी के दिन लद गये हैं। इसलिये हिन्दी जल्दी सीख लेनी चाहिये। चूँकि, मैं प्रांतीय संचालक हूँ, साथ ही इस योजना की सूझ भी मेरी ही है, इसलिये मुझे सर्वत्र जाना पड़ा कि कहीं असफल न हो जाय। मैं सभी केंद्रों में गया। उनके मुख से हिन्दी की आवश्यकता सुनी। उनको अगले

साल भी आना होगा, वचन भी दिया।

मेरा मत है कि जो अच्छी ओड़िया तथा संस्कृत जानते हैं, उनको हिन्दी सीखना बहुत ही आसान है और ज्ञान वर्द्धक भी है। लेकिन, तत्कालीन डी० पी० आई० का कहना था कि मेट्रिक पास आयें। कारण, संस्कृत वाले अनुभव शून्य होते हैं। उनको व्यवहारिक ज्ञान नहीं के बराबर होता है। इसके फलस्वरूप मेरी यह योजना कि जो एक बार आ चुके हैं वही पुनः आवें, डी० पी० आई० ने काट दिया। मियाँ की दौड़ मस्जिद तक। मैंने जाकर पंडितजी से कहा—उन्होंने टेलीफोन से डी० पी० आई० को कहा—जो शिक्षक गत वर्ष आये थे वही आयेंगे, और अगर नये आवें तो संस्कृत शास्त्री या आचार्य वाले ही लिये जायँ।

यह मेरी विजय थी। वही पुराने अध्यापक आये। हिन्दी सीख कर काम करने लगे। लेकिन, उनको जो मिलने की आशा थी डी० पी० आई० ने नहीं दिये। तर्क यह पेश किया गया कि—उतने ही समय के अन्दर तो काम करते हैं, जितने घण्टे उनको करना चाहिये। ऐसा हुआ तो फिर सभी को देना पड़ेगा। हालाँकि, स्कूल पुस्तकालय में काम करने वालों के लिये कुछ दिया जाता है। यह सुन्दर तर्क था, अंग्रेजी ज्ञान का नमूना था कि 'लाठी भी न टूटे, और साँप भी मर जाये।' हिन्दी पढ़ाई भी बन्द हो जायेगी, और कुछ कहना भी नहीं पड़ेगा। ब्रिटिश सरकार के वफादार सभ्य का यह सुन्दर नमूना था। यह ऐसा काम था कि फाइलों के

अन्दर मंत्री भी बंधे थे। पंडितजी ने मान लिया । हाँ, गड़बड़ी हो सकती है। यह कहने का बल नहीं मिला कि कहें—राष्ट्रभाषा का प्रचार करना सरकार का काम है। इसके लिये काम करने वाले प्रोत्साहित हों। पंडितजी भी फाइल में बंधे थे। उनके लिये उस नियम का उल्लंघन कठिन था।

परन्तु, यह सौभाग्यकी बात थी कि शिक्षकों ने हिन्दी प्रचार के प्रति अपनी अनुरक्ति रखी थी। काम करते थे। सैकड़ों छात्र परीक्षा में बैठने लगे। उनको जो पत्र-पुष्प मिलता, संतोष किये हुये थे। आजतक भी वही नियम जारी है। स्कूलों में हिन्दी अनिवार्य नहीं हो पाई है।

इस काम को देखने के लिये मैं सभी शिविरों में गया। काम देखा लेकिन, कोरापुट-जयपुर की यात्रा मुझे बड़ी ही रोचक लगी। जो बातें आजतक जबानी सुनी थी, प्रत्यक्ष देखा।

कोरापुट का नाम सुना था। यहाँ के आदिम जाति के संबंध में भी अनेक बातें सुनी थी। परन्तु, देखने का मौका यह प्रथम था। सालूर से ५ मील के बाद से ही पहाड़ी चढ़ाई शुरू होती है। ३–४ हजार फुट तक चढ़ाई जारी रहती है। जरा भी चूक जाय तो फिर बस गये रसातल। मुझे आश्चर्य हुआ, जब मैं यहाँ के जंगली मानवों को देखा कि वे इतने क्षीण काय होते हुए भी पहाड़ों पर चढ़े चले जा रहे हैं। मानो इस चढ़ाई में कोई तकलीफ की बात है ही नहीं! जैसे कोई आसान चीज हो!

जंगलों में उनका राज्य है। वन्य जीव-जन्तुओं के सामने वे उनके परिवार से मालूम होते हैं। कपड़े तो शायद ही जीवन में पहिनते हों। जंगल के पादप-पत्र ही उनके शरीर की शीत, ग्रीष्म की तपन से छाया करते हैं। उनसा निर्विकार प्रकृति-सौन्दर्य का एक साम्य, सच्चा, शुद्ध-पूत रूप यहीं देखने को मिला।

जिस मानव पुरुष प्रकृति को देखकर अधर खींचता है, नाना विभ्राट रूप देखता है, सृष्टि के सृजन तथा हनन में सहयोग देता रहता है, वही मानव अपना कितना साधु-रूप जंगलों में छिपा रखा है? और नगरों में निवास करने वाला मानव उनको जंगली ही कहें तो भी कोई अशुद्ध कथन नहीं है। लेकिन, उनको असभ्य कह कर अपने ज्ञान, शिक्षा तथा उनके प्रति अपनी दयापूर्ण सहानुभूति का दान बाँटा करते हैं, यह लज्जाजनक व्यापार है।

कोरापुट का भ्रमण मुझे बौद्धिक लगा। मैं जयपुर में दो दिन ठहरा। श्रीयुत राधामोहन साहु के घर का मेहमान था। चारों ओर पहाड़ों से घिरा यह उद्यानमय स्थान नीरव तथा सुहावना लगा। मैंने कितनी बार ग्राम के बाहर जाकर खड़े-खड़े चारों ओर देखा। कितना हरा-भरा संसार है, यहाँ का। उत्तरीय ओड़िशा के लोग इसको काला-पानी समझते हैं। अफसरों की बदली यहाँ कठोर अपराध की सजा मानते हैं। लोगों की मुख की कहानी मैंने सुनी थी। यहाँ काला ज्वर होता है, पेट बढ़ जाता है, और हाथ-पाँव पतले हो जाते

हैं। साँप-बिच्छू और नाना प्रकार के जंगली जानवरों का यहाँ बाहुल्य है। यहाँ के आदिम जाति वाले नर बली करते हैं और उनका कच्चा मांस पवित्र प्रसाद समझ खा जाते हैं।

मुझे भी यह कहानी सच मालूम दी । कारण, मैंने "इतिसिंग की भारत यात्रा" नामक पुस्तक में पढ़ी थी। जो इतिसिंग की अपनी यात्रा और अनुभव का वर्णन है—कि दक्षिण की ओर बढ़ने पर लोगों ने कहा—तुम्हारा सुन्दर शरीर देख कर लोग मार कर खा जायेंगे, तब उसने अपने शरीर में मिट्टी (काँदों) लपेट कर के आगे बढ़ा।

परन्तु, मुझे यहाँ ऐसा कुछ नजर नहीं आया। हाँ, सुना जरूर कि घटना आज भी सच होती है। मुझे तो राष्ट्र-भाषा को धन्यवाद देना है। कारण, मैं उसी के कारण यहाँ आया था और ऐसे-ऐसे भारत का सौन्दर्य देख सका ।

मैं हिन्दी के अध्यापन कार्य को देखने के लिये प्रायः सभी जिले में, खासकर कटक, पुरी, बालेश्वर, सम्बलपुर और कोरा-पुट, जयपुर गया था ।

मैं आज १९५८ में भी वही पुरानी बातें याद करता हूँ और चाहता हूँ कि वैसा ही हो। लेकिन अब तो और भी अंग्रेजी की ममता लोगों के दिल और दिमाग में धर रही है।

पुरी राष्ट्रभाषा सम्मेलन

१९५७ में अखिल भारत राष्ट्रभाषा प्रचार सम्मेलन का छठां अधिवेशन पुरी में हुआ था। इसके सभापति थे, श्री बी० वी० केशकर केंद्रीय मंत्री, सूचना एवं प्रसारण विभाग। यह सम्मेलन सानंद संपन्न हुआ, इसमें मेरा दिल और दिमाग दोनों लगा था। धन तो मेरे पास नहीं था। लेकिन धन के लिये दौड़-धूप किया था। काम समाप्त हुआ और संतोष के साथ समाप्त हुआ।

मैं डरता था कि इतने बड़े सम्मेलन का आयोजन कैसे होगा? रुपये कहाँ से आवेंगे? १४-१५ हजार रुपये वसूल करना मामूली बात नहीं थी। इसलिये बार-बार कहने पर भी मैं चुप था। परन्तु श्रीयुत मोहनलाल जी भट्ट की मुझ पर कृपा रही है। उन्होंने सम्मेलनमें भाग का सब रुपया अग्रिम दे दिया और काम चल निकला। इस प्रकार---जगन्नाथ के भात को जगत पसारे हाथ, की कहावत बनी, आज सभी के सामने सुलभ हो गई। सम्मेलन दर्शन के साथ-साथ जगन्नाथजी के दर्शन का लाभ लोग नहीं भूले थे।

मैं मन में दुखी था, आजकल सरकार की हिन्दी संबंधी नीति को देखकर। फलस्वरूप मन की जली-कटी बातें लिख कर के मैंने पढ़ा। वह भाषण सभापति जी को तो नहीं, परन्तु प्रतिनिधियों को पसन्द आया था। केशकरजी के भाषण की

समालोचना भदन्त आनन्द कौशल्यायनजी ने अपने भाषण में की। इसमें श्रीयुत राधानाथजी रथ, तात्कालीन शिक्षामंत्री के सभापतित्व में प्रांतीय सभा का वार्षिक सम्मेलन भी हुआ। आपका भाषण बड़ा ही सुन्दर, साथ ही राष्ट्रभाषा के लिये आवश्यक एवं परम उपयोगी था। प्रचार कार्य की दृष्टि से यह सम्मेलन वहुत ही लाभान्वित रहा। इसमें खर्च के लिये शिक्षा विभाग के डायरेक्टर ने ५००० रुपये दिये थे। और वर्धा समिति ने ५००० रुपये। २—२ हजार और भी चन्दे में आये। लेकिन, सभा इस सम्मेलन से २५०० रुपये के घाटे में रही।

समितियों के संचालक सभा के प्रति प्रेम-भाव हमेशा रखते आये हैं। इस बार की घटना बड़ी-ही दर्दनाक और अपन-पौ की परीक्षा थी। मैंने राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की बैठक और संचालकों की संयुक्त बैठक बुलाई। उस समय भारत भर में जुकाम की हवा चली थी। जो पश्चिम समुद्र से उठ कर भारत के कोने-कोने में फैली थी, उत्कल उससे बाकी न रहा। मैं, विनीता और बिटिया इन्दु शैया-शायी वन गये। इधर सभी समितियों के सभ्य तथा संचालक समय पर आ पहुँचे। जिनको जुकाम ने धर कर चित्त कर रखा था वे ही नहीं आ सके। पर अधिकांश आये।

सभी ने तकलीफ सही। सानन्द समिति की बैठक खतम हुई। प्रेम-पूर्वक हँसते-हँसते अपने घर को चले गये।

उस समय की वायु भी एक अद्भुत रूप में चली थी।

जिधर जाइये रुमाल पर जुकाम से बचने के लिये औषध डाले नाक में लगाये घूम रहे थे। परन्तु पकड़ा उन्हींको जो बचना चाहते थे। इस समिति के परिवार में केवल एक ही आदमी इस जुकामसे बच सके हैं, और वह हैं श्रीयुक्त मोहनलालजी भट्ट।

मद्रास भ्रमण

स्वामीजी की इच्छा हुई कि मद्रास चला जाय। मेरी तो बहुत दिनों से यह इच्छा थी कि मद्रास चलें और वहाँ के दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा की कार्य प्रणाली देखें। उनका अनुभव पुराना है, जो अध्ययन की वस्तु है।

हम दोनों मद्रास मेल से चले। दूसरे दिन मद्रास पहुंच गये। पथ में कोई खास बातें नहीं थी। खाने का सामान तो हमारे साथ था ही।

स्वामीजी की भतीजी श्रीमती निर्मला दास वहीं थीं। उनके स्वामी श्री केशवचन्द दास वहीं काम करते थे। हम लोग वहीं ठहरे। निर्मला मेरी हिन्दी की छात्रा रह चुकी है। बड़ी बातूनी, दबंग और साहसी महिला है। उसके पास रहते मद्रास के चरपिरे व्यंजन हमें अधिक अपना मेहमान नहीं बना पाया। रविवार के दिन भ्रमण के समय कभी इडली और कभी दोसी जरूर मँगाई जाती। उस समय एक लड़की थी चिनू। जिस घरमें निर्मला थी, उसी घर का मालिक था तमिलियन। उसकी एक लड़की थी। जिसकी उम्र ३–४ साल की होगी, दोनों बड़े प्यार से घण्टों खेलतीं, न वह ओड़िया जानती थी और न चिनू तमिल। परन्तु खेल में ऐसी तल्लीनता थी कि कई बार छिपकर उनका खेलना देखता था, सुनता कि वे क्या बातें करतीं। समय पर चिनू ओड़िया बोल देती और

वह तमिल, लेकिन दोनों में समझती कोई भी किसी की बात नहीं थी। परन्तु, वे दोनों एक दूसरे के दिल की बातें समझ लेती थीं। उनको भाषा का व्यवधान खेलने में नहीं मालूम देता था। वे हँसती थीं, और मजे में एक दूसरे का मुख देखतीं—आँखें मिलती और बस समझ लेती थीं। दूसरे दिन मैं हिन्दी प्रचार कार्यालय देखने गया। मैं अकेले था, अंग्रेजी नहीं जानता था। हिन्दी में पथ पूछता चला गया। मुझे रास्ता बतलाने में लोगों ने गलती नहीं की।

मुझे प्रसन्नता हुई कि मद्रास में भी लोग हिन्दी समझते हैं।

सभा में गया। उनका कार्य देखा, पुस्तकालय देखा, प्रेस देखा, प्रकाशन देखा और चलते ट्रेनिंग वर्ग भी देखा। बड़ा ही सुन्दर और व्यवस्थित ढंग से वहाँ राष्ट्रभाषा का प्रचार कार्य चल रहा था। वे अच्छा पढ़ते थे, और लिखते भी अच्छा थे। सुन्दर बोल भी लेते थे।

इस हजार बारह सौ मील की लम्बी यात्रा में मुझे लगा कि हम जैसे ओड़िशा की भूमि में हैं। पुरी के पास हैं। कहीं-कहीं सी० पी०, यू० पी० की भूमि जैसा दर्शन होता। चाल-चलन, खान-पान में कोई खास अन्तर नहीं मालूम दिया। मैं सुना करता था कि दक्षिण भारत की अपनी समस्याएँ हैं। मुझे भारतीय समस्या से भिन्न उनकी कोई अलग समस्या नजर नहीं आई। कामना, लगन, कल्पना तो सभी करते हैं।

स्वामीजी के साथ मैं मैसूर राज्य और बंगलोर भी गया

था। मैसूर में पहाड़ पर देवी के सामने एक विराट दैत्य का दर्शन भी किया था। बड़ा ही सुन्दर सौन्दर्य था उस मैसूर की बेलाभूमि का। म्युजियम, कालेज और चन्दन के काठ से बननेवाली वस्तुओं को देखा, और देखा वहाँ के सुन्दर बाग। वृन्दावन बाग तो वहाँ अमरावती माना जाता है। मैसूर सभी देशी राज्यों में साफ, सुन्दर और खुशहाल नजर आया। यहाँ प्राकृतिक सौन्दर्य भी अनुपम था।

मैसूर से स्वामीजी योग झरना देखने के लिये चले। मैं उनके साथ था। रात हो गई थी, रेल चल रही थी। खाने की चीजें स्टेशन पर नहीं मिलती थी। मिलती थी केवल पकौड़ियाँ, एक स्टेशन पर उनको ही खरीदना चाहा, लेकिन गाड़ी ही छूट गई। स्वामीजी ने कहा—मैं सोता हूँ। रात तो मैं खाता नहीं; आप स्टेशन में कुछ लेकर खा लेना।

डिब्बे में १०–१२ आदमी थे। उनमें २ औरतें और ३ युवती बाला भी थीं। मेरा ख्याल है वे तीनों बहनें थीं, और पास बैठा युवक भाई है। तीनों का रंग श्यामल था, बड़ी ही प्रसन्न हँसमुख लग रही थीं। बिलकुल निःसंकोच थीं।

स्टेशन आया, खाने की वस्तु नहीं मिली। नीचे उतर कर खोजना, और फिर रात के समय, मैं उचित नहीं समझता था। कारण, निडर भी तो नहीं था। गाड़ी चली तो तीनों युवतियों में मझली ने एक पोटली खोली—चार रोटियाँ तथा हरी मिर्च की चटनी उसी में रख मेरी ओर बढ़ाया। मैंने कहा—नहीं, नहीं! मुझे कोई अधिक भूख भी नहीं। लेकिन, उसके

मेरी ओर जो हाथ बढ़े थे, लौटे नहीं। मेरी भाषा वह नहीं समझती थी, या समझती भी होगी तो बोल नहीं सकती थी। समझती तो जरूर होगी, अन्यथा मुझे खाना नहीं मिल रहा है, जाना कैसे? वह मुस्कराते हुए केवल सिर हिलाकर लेने का इशारा करती। और एक सज्जन ने हिन्दी में कहा—ले लीजिये, बिचारी दे रही है। मैंने उसके हाथ से रोटियाँ ले ली। एक रोटी तथा थोड़ी सी चटनी ले लिया बाकी लौटा दिया।

रोटियाँ ले लेने से वह खुश हुई। उसके साथी भी खुश हुए। तीनों बहिनें और वह युवक खाने लगे। हमारे पास केले थे। मैंने २-२ उनको दिये। उन लोगों ने मना नहीं किया, आग्रह से ले लिया।

रोटी-चटनी मैंने खाई। कितनी स्वादिष्ट थी! भोजनोपरान्त, मन और बुद्धि में चला तर्क। उनके पास पानी नहीं था। मैंने सुराही और ग्लास दिया, चारों ने पानी पिया। वे बहुत खुश थीं।

जिसने मुझे रोटी खिलाई थी, उसके प्रति मेरी हमदर्दी बढ़ी। बार-बार देखता, वह सुन्दर थी। सुन्दर आनन, भरे कपोल, हिरनी-सी चंचल आँखें, श्रीसम्पन्न वक्ष, बात यह कि वह नारी सौन्दर्य, काव्य रस से परिपूर्ण था।

मन में भाव उठे—यह भारतीय संस्कृति, मानव मानव के प्रति प्रेम, दया प्रवणता कितनी सदय होती है। अंग्रेजी ने इसमें खट्टापन मिला दिया है।

विचारों का ताँता टूटा नहीं—भूखों के प्रति दया तो

सभी देशों में है, परन्तु वे सम्पन्न हैं, भूखे नहीं हैं। अगर तुम्हारे पास खाने की चीजें होती तो वह कभी रोटी नहीं देती। भाव अभाव पर सदा से दया करता आया है।

परन्तु, ऐसा होवे ही क्यों, कि भाव अभाव पर दया करे? इसका नतीजा यह होता है कि भाव अपने को बड़ा मानेगा और अभाव को छोटा। अभाव को अपने आधीन करने की कोशिश करेगा।

मेरा मन खुश था। लोगों की तथा उसकी नजर बचा कर मेरी आँखें उस नीलोत्पल सम श्याम सौंदर्यको देखतीं। कभी-कभी आँखें आँखों से टकरा जातीं। यह यात्रा बड़ी मधुर लगी। रात यों ही बीत गई। सबों ने झपकियाँ लीं। परन्तु मुझे नींद नहीं आई। सबेरे ६ बजे जब गाड़ी खड़ी हुई तो वे चारों उतर पड़े। उनका यह उतरना मुझे तीर-सा लगा। नाना उतार-चढ़ाव और विचार तरंगों में रमण करते मन-बुद्धि आगे के स्टेशन की अपेक्षा में थे। और कोई २० मिनट बाद आया मेरा स्टेशन, हम भी उतरे। यहीं से योग जाना है। बस में जाना होता है। रेल वहाँ तक नहीं जाती है।

योग झरना अति प्रसिद्ध है। यह मैसूर राज्य में है। लेकिन इस झरने को पैदा करने वाली पहाड़ी ही बम्बई राज्य और मैसूर राज्य को अलग किये है।

वास्तव में इस झरने का सौंदर्य बड़ा ही मोहक है। लगभग १५०—२०० फुट के ऊपर से गिरने वाली धारा नीचे तक जाते-जाते भाप बन जाती है, और फिर धुआँ का रूप धारण कर

ऊपर आकर पानी में मिल जाती है। सवेरे तो कुछ ऊपर उठता है, लेकिन दिन को धारा में लीन हो जाता है।

यहाँ के पहाड़ों की शोभा भी अनुपम है। एक ओर श्यामल तो दूसरी ओर हरा और पीला नजर आता है। कहीं-कहीं तो ऐसा सुन्दर लगता है मानो प्रकृति सुन्दरी के केश-विन्यास के दोनों ओर के केश पट हों। और यह बीच की सघन श्यामल काली रेखा वेणी हो। मैं झरने के इस पार बैठा कभी-कभी ऐसा ही सोचता।

यहाँ एक डाक-बंगला है। इस पार बम्बई का डाक-बंगला है। दोनों राज्य अपने-अपने यात्रियों के लिये सुव्यवस्था कर रखे हैं।

स्वामीजी यहाँ दो दिन रहे। तीसरे दिन फिर मन नहीं लगा। कारण, अहर्निश झरना अपना अखण्ड संगीत जारी किये रहता था और इस संगीत स्वर-लहरी के कारण जल्दी कान में कोई दूसरा शब्द नहीं जा पाता। मन ऊब जाता है। और अधिक संगीत प्रिय नहीं है। नीरव शांति के उपासक यहाँ अधिक दिन नहीं रह पाते। अन्यथा यह स्थान भी ऋषिकेश के मुकाबिले में होता।

हम जिस रास्ते गये थे, वैसे ही कटक वापस आ गये। भारत में चाहे जहाँ जायँ हिन्दी साथ रहेगी तो तकलीफ नहीं होगी; ऐसी मेरी धारणा है। वे गलती करते हैं जो कहते हैं कि भारत में अमुक स्थान हिन्दी नहीं जानता।

जयपुर यात्रा

१९५८ में राष्ट्रभाषा प्रचार सम्मेलन जयपुर (राजस्थान) में हो रहा था। यह सम्मेलन और कुछ भी न करे, लेकिन देश भ्रमणार्थियों के लिये बहुत लाभजनक होता है। एक तरफ का किराया देने से लोग आ-जा सकते हैं। फलस्वरूप जयपुर के लिये आकर्षण सभी के लिये महत्व का था। हमारे उत्कल से भी काफी संख्या में आने का निमंत्रण-पत्र प्राप्त किये गये थे।

मैं तो जाने वाला था। साथ में इस बार श्रीमती विनीता पाठक और इन्दु बिटिया भी जानेके लिये तैयार हुई। इन्दु तो अभी २—२।। साल की ही थी।

हम लोगों के प्रयत्न करने पर टिकट मिला तो लेकिन बड़ी कठिनाई से। श्रीमती मेरी बेहेरा (विनीता की छोटी बहन) भी तैयार हो कर आ गई थी। अन्य भी दो-तीन आदमी थे। लेकिन, चूँकि जनता गाड़ी के समय तक न आ सकने के कारण वे लोग कटक में ही छूट गये।

कलकत्ते स्टेशन पर हम लोग पहुँचे। शाम को गाड़ी जाने वाली थी। इसलिये हावड़ा स्टेशन के फर्स्ट क्लास के प्रतीक्षालय में रहे। इन्दु बच्ची थी, उसको यह कोलाहल अच्छा लगता था। लेकिन मेरा दिल धड़क रहा था। पूजा की छुट्टियों में बंगाली बंगाल छोड़ यों भाग रहे थे, मानो

फिर बम बर्षाने की सूचना दे दी हो।

ठाकुर अयोध्या सिंहजी हमारी सहायता के लिये थे। उनकी भाग-दौड़ के फलस्वरूप टिकट के अनुसार सीट सुरक्षित थी। समय पर हम लोग प्लेटफार्म पर आ गये। आदमियों की भीड़ समुद्र के ज्वार-भाटा की तरह दावे चली आ रही थी। मैं कुलियों के पीछे था और बिटिया विनीता की गोद में पीछे। उसका दम घुटने-सा लगा था। बिटिया बोलीं--चलो कटक लौट चलें। मेरा भी बुरा हाल था। मैं भीड़ के साथ जाने में घबड़ाता हूँ, जैसे लाल कपड़े को देख कर भैंसा। मेरी बेहेरा भी धक्का खा रहीं थी। वय के अनुसार शायद उसे धक्के बुरे नहीं लग रहे थे।

किसी प्रकार डिब्बे में दाखिल हुए। आदमी सुरक्षित-अरक्षित में कोई फर्क नहीं मान रहे थे। हाँ हाँ मरे, माँ , बाप, दादा की पुकार मची हुई थी। कोई किसी की नहीं सुनता था। कौन किस पर गिरता है? बालक दबते हैं, मरते हैं--यह चिन्ता किसी को भी न थी। एकमात्र यही लक्ष्य था कि गाड़ी में चढ़ जाना।

मुझे आज की काँग्रेस सरकार की अव्यवस्था पर क्रोध आ रहा था। मन ही मन में कुढ़ते हुए गाली दे रहा था। क्यों, ऐसी व्यवस्था नहीं करते कि सबको सुविधाजनक सवारी मिल जाय।

जो भी हो, हम तीन जहाँ बैठे थे, वहीं पास ही कुछ बंगाली सज्जन भी विराजमान थे। जिनमें २ मर्द, ४ औरतें और

४ बालक थे। इसमें मर्द तो वास्तव में मर्द था। उसने दाबे चली आती भीड़ पर अधिकार जमा लिया था। किसी को गरदनियाँ, किसी को धक्का देकर पर्याप्त स्थान पर अपना कब्जा कर लिया था। यह लोग भी आगरा जा रहे थे। उनका दो रात और एक दिन का साथ हमारे लिये बड़ा ही मधुर रहा। उनका व्यवहार भी बड़ा ही नेक, सहृदय एवं प्रेमपूर्ण बना रहा। हम लोग समझ न पाये कि इस डिब्बे में हम दूसरे प्रांतों के हैं। जैसे मर्द थे, वैसे ही या उससे भी कहीं अधिक वह औरतें थीं। उनमें एक जैसे अपने ऊपरी रंग-रूप में सुडौलता और सुन्दरता रखती थी, वैसे ही उसका आन्तरिक व्यवहार भी आकर्षक एवं सुन्दर था। अवश्य उसकी उम्र ३५ से कम न होगी। लेकिन, उसमें नारी सुलभ कमनीय सौजन्यता पर्याप्त मात्रा में थी। हम लोगों ने टूँडला जंकशन में गाड़ी बदली। यों तो हमें दिल्ली जाना था लेकिन, चूँकि दिल्ली के पास यमुना पुल पर पानी आ गया था। अतः वह लाईन बन्द कर दी गई थी। हम लोग आगरा चले गये।

आगरा स्टेशन पर उतर वे बंगाली लोग काली-बाड़ी चले गये, और हमलोग स्टेशन के समीपस्थ एक होटल में।

होटल में जाकर देखा कि बम्बई की ५०–६० छात्राएं भरी हैं। हम लोगों को भी सुन्दर स्थान मिला। छात्राओं के रहने से कोई तकलीफ नहीं हुई, उलटे, बम्बई के नाना रूप-रंग, और सौन्दर्य के दर्शन हो गये। यों तो बम्बई मैंने देखा है, एक बार नहीं बल्कि, दो-तीन बार। एक बार की घटना से बम्बई

सदा याद रहेगा। उस बार बम्बई हम राष्ट्रभाषा प्रचार सभा की बैठक में भाग लेने गये थे। मैं पं० रामेश्वर दयाल दुबे (परीक्षा-मंत्री, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा) जी को साथ लेकर वम्बई घूमने निकला। वे एक सज्जन से मिलने गये। इसी वहाने मैंने भी भ्रमण करने की कामना जाहिर की, और चल दिया। जहाँ जाना था, गये। दुबेजी ने मेल-मुलाकात की। जब वापस चले तो शाम हो गई थी। जिस मार्ग से हम आये थे, दूसरे गली में निकल पथ भूल गये। आगे चले तो देखा दोनों किनारे खिड़कियों पर भीड़ लगी है। प्रथम तो ध्यान आया कि शायद अभी गाँजे के ग्राहकों की भीड़ होगी; क्या भाव होता है? यह जानने के लिये दुबेजी जरा और आगे वढ़े तो देखा कि भीतर औरतें हैं। बाहर मर्द हैं, युवा, प्रौढ़ और वृद्ध भी हैं। भाव लगा था, चवन्नी का। मेरी भी आँखें उधर जा लगीं। समझने में देर न लगी। दुबेजी से कहा—भागो, भागो! और वहाँ से ऐसे भागे मानो कोई चोरी का माल लिये भाग रहे हों। दुबेजी आज भी उस घटना का वर्णन किया करते हैं।

बंबई की बालिकाएं भली लगती थीं। कितने रंग की ब्लाउज, साड़ियाँ, फ्राक, जूता, चट्टी, मोजा और माथे पर लाल बिंदिया; नयनों में अंजन, सिर पर सुन्दर घने बालों की वेणी और साथ ही साथ वय आगमन के प्रतीक दो उदय-उभय पक्ष और उषा-कालीन-सी आभा कितनी मनोरमता उत्पन्न कर रहा था। जहाँ मन रम जाये, उसे आनन्द मिले, नाना

भाव विभाव, विमलांगिक कान्ति के दर्शन की मानसिक अनुभूति भी तो साहित्य ही है।

मुझे अच्छा लग रहा था, यह सौन्दर्य दर्शन। इस दर्शन से थोड़ा संकोच था श्रीमती विनीता पाठक के प्रति; मिस मेरी से तो मैं हँसी-मजाक के संबंध के नाते डरता नहीं था।

नाश्ता-पानी करने के पश्चात् हमलोग ताजमहल और आगरा का किला देखने चले। हमारे होटल से एक पथ-प्रदर्शक भी चला। वह भी था बड़ा ही शरीफ और नेक स्वभाव का। सभी स्थान और किला दिखला कर वह स्थान और घोड़ा दिखलाया जहाँ से राठौर दुर्गादास ने घोड़े को ऐड़ लगा कर चहारदीवारी पार किया था और नीचे आते ही घोड़ा भी समाप्त हो चुका था और मालिक भी।

नूरजहाँ का मकबरा देखा। ताजमहल का दर्शन तो अनुपम था ही। यों तो मैंने और भी दो-तीन बार ताजमहल देखा था। लेकिन, श्रीमती विनीता पाठक, मिस बेहेरा और इन्दु बिटिया के साथ देखने का यह प्रथम मौका था। कितनी शान्ति मिली। कितने आन्तरिक भावोच्छ्वास संग्रह किये थे मैंने। फोटो लिये, और भी कितनी कामनाएं उठीं, मन नाचा, गाया और इस ताजमहल के पीछे का गत इतिहास स्मरण करके मन में शोक हुआ। मन ने कहा—कितना विमल-सौन्दर्य की प्रतिमा प्रतिष्ठित है यहाँ! बादशाह शाहजहाँ और मुमताज महल की यह शारीरिक समाधि तो है; परन्तु सौन्दर्य का सच्चा, एवं निखरा स्वरूप यहीं दीखता है।

जयपुर के लिये आगरा से शाम को गाड़ी जाती है। यह छोटी लाईन है। हम लोग यहीं से गाड़ी पर बैठे, और रात को ३ बजे जयपुर स्टेशन पर गाड़ी जा लगी।

जयपुर मेरा एक बार पहले का देखा हुआ था। मुझे पहले की अपेक्षा न मालूम क्यों श्रीहीन-सा लगा। अस्तु, राष्ट्रभाषा सम्मेलन में शामिल होने के लिये हम लोग गये। सेठ गोविंद दास उसके सभापति थे। उनका शानदार जुलूस निकला। इसी बहाने सारा शहर तो नहीं मुख्य-मुख्य सड़कें तो देख ही लिया।

प्राचीन राजाओं की शान तो अभी थी ही। राष्ट्रभाषा का जलसा हुआ। पं० हृषीकेश शर्मा की षष्ठी-पूर्ति में उनका सम्मान किया गया। इतना होते हुए भी लोगों की इच्छा केवल घूमने की थी। फलस्वरूप प्रतिनिधियों की जितनी संख्या निश्चित थी, उपस्थिति उससे बहुत कम की होती थी।

इस लेख की जो भूमिका मैंने बाँधी है, उसके पीछे बहुत पुरानी कथा की याद निहित है। उसे साफ कह देना चाहता हूँ। उस दिन रात को जयपुर के राजा साहब ने सभी प्रतिनिधियों को भोजन पर निमंत्रित किया। लेकिन, भोजन का वह अंग्रेजी कायदा मुझे नापसंद रहा। मेरे पास इन्दु थी जो भीड़ से घबड़ाती थी। लोग खाने के लिये झपट रहे थे। जब भीड़ कुछ शान्त हुई तो चार पूड़ी लेकर मैं भी एक ओर बिटिया को लेकर बैठ गया। मुझे लज्जा लग रही थी। कंगले जैसा कायदा था। मन ने कहा—हिन्दुस्तान कितना बुद्धिहीन होता

जाता है ? हमारी परंपरा और परिपाटी यह नहीं है कि दौड़ें और वहाँ से उठायें, यहाँ से लें। उसे मुख में डाल लें। अस्तु मुझे वह व्यापार संतोष नहीं दे सका। अधूरा खा लौट चला। बाजार में कुछ लेकर खाया।

उसी रात यह तय हुआ कि गलता झरना देखने चला जाय। अतः दूसरे सबेरे लगभग ३० आदमी एक बस से चले। घूमते-घामते पहाड़ की उपत्यका पार करते, कछारों को लाँघते गलता झरना के किनारे पहुँच गये।

झरने के पास बैठे भूने चने खरीद लिये थे। वही एक-मात्र भूख की ज्वाला में हवन की समिधा थी। साथ में भदन्त आनन्द कौशल्यायन थे। चने की पोटली देखी तो बिटिया से कहा—दो स्वामीजी को भी भिक्षा दो। बिटिया ने अपने सुन्दर, छोटे-छोटे नन्हें हाथों से ४–६ मुट्ठी चने दिये। मैं देखता था और दिल से उस कहानी को गुनता था। इस प्रकार आनन्द के भागने पर प्रकृति माता ने पानी पिलाया था। मुझे यह दृश्य बड़ा-ही रुचिकर लगा। स्थान तो शान्त सुन्दर था ही, दूसरे इस सन्यासी को भोजन-दान अभिनव स्वच्छ सुरुचिपूर्ण साहित्य का प्रादुर्भाव होता था।

आगे बढ़े हम ऊपर चढ़ रहे थे। बिटिया गोद में थी। कभी पैदल चलती थी। मिस मेरी हथिनि के समान पुट्ठों पर वेणी हिलाती आगे-आगे चली जा रही थी। उसके प्रबल पुष्ट कलेवर का दर्शन नयनों के लिये न सही लेकिन लुभावना तो था ही। विनीता तो मेरे साथ थी। जरूरत पड़ने पर मैं हाथ

थाम लेता। घूमते-घामते स्कूल, तथा संसार प्रसिद्ध ज्योतिष-मन्दिर देखा। जोकि धूप से सारे संसार के ग्रहों की गति का परिचय बतला रहा था।

उसी दिन रात को दिल्ली के लिये चले। रात को २ बजे गाड़ी आई। २० रुपये देकर सोने के कमरे वाले सीट पर जा सोये तो सबेरे दिल्ली ही उतरे।

हम राष्ट्रभापा के प्रचारकों का मठ होता है राष्ट्रभाषा प्रचार कार्यालय। अतएव, हम सीधे गये। श्रीमती राजलक्ष्मी राघवन, संचालिका, दिल्ली प्रांतीय राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, जो ३६ कैनिंग लेन पर है। वहाँ से फिर कुतुबमीनार देखा, राजघाट देखा, दर्शन किया। भारत संविधान भवन देखा। स्वराज्य के वाद का यह दर्शन मेरे दिल को गुदगुदा रहा था। लाल किला देखा, सिंहासन पर बैठ फोटो लिया। बिटिया तो प्रसन्न होकर लान पर दौड़ने लगी। उसकी माँ विनीता डरती थी कि चिकने पत्थरों में कहीं गिर न पड़े। उस समय वह बड़ी सुन्दर दीखती थी। एक ओर प्राचीन ऐतिहासिक स्थान का दर्शन, दूसरे ओर मातृ-स्नेह के कारण बिटिया के फिसलने का डर—इस मेल से उसका रंग-रूप और सुडौलता के साथ अन्तर के विह्वल भाव साकार हो उठे थे।

हम लोग दिल्ली पाँच दिन रहे। वहाँ से प्रयाग आये। हिन्दी-साहित्य सम्मेलन की सत्यनारायण कुटीर में ठहरे। गंगा स्नान भी किया। बिटिया ने डुबकी लगाई और माता तथा मौसी ने भी। सभी ने अन्तर बाहर से अपने को निर्मल तथा

शुद्ध माना।

प्रयाग से कलकत्ते आये। कलकत्ते में कालीजी का मन्दिर और चिड़ियाखाना देखा। बिटिया चिड़ियाखाने के बाघ, भालू और नाना प्रकार के जीव-जन्तुओं को देख बेहद खुश हुई। खासकर हाथियों के केले खिलाने में उसको अपार आनन्द आता था। मैं चिड़ियाखाना २–३ बार पहले भी देख चुका था। लेकिन, इस बार के देखने में मुझे कुछ और ही आनन्द मिल रहा था।

दूसरे दिन कटक के लिये चल पड़े।

राष्ट्रभाषा प्रचार यात्रा

१९५८ मार्च मास था। हिन्दी यात्रा करने के लिये स्वामीजी ने कहा। कारण होली की उनको १० दिन की छुट्टी थी। सम्बलपुर, सुन्दरगढ़, बलाङ्गीर और सोनपुर जाने की बात तय हुई। इस यात्रा में राष्ट्रभाषा प्रचार सभा और कटेज इन्डस्ट्री थी। इन्डस्ट्री का अपना एक सरकारी बस है। आधे-आधे पेट्रोल खर्चे की बात तय हुई। स्वामीजी दोनों संस्थाओं के सभापति हैं। इसलिये एक साथ यात्रा में दोनों का काम होता जायगा, यह सर्वोत्तम और कम खर्ची का काम था। जहाँ-जहाँ हमें जाना है स्वामीजी के समीप के सम्वन्धी तथा सम्पर्की थे। इसलिये इस यात्रा का कार्यक्रम प्रथम से भेजा जा चुका था। इसके प्रथम मद्रास का भ्रमण स्वामीजी के साथ हो चुका था।

८ बजे सबेरे स्वामीजी के साथ श्री दुखीश्याम बाबू, मैं मोटर से चले। स्वामीजी अपने साथ नास्ते तथा भोजन का सामान लिये थे। मैंने भी कुछ लिया। मेरे साथ कृष्णचंद्र दास था। और स्वामीजी के साथ नथिया। जहाँ-जहाँ स्वामीजी वहाँ-वहाँ नथिया रहता है। प्रथम पड़ाव मेरामुण्डली स्टेशन पर पड़ा। दोपहर का समय था। भूख लगी थी। स्वामीजी की इच्छा थी, किसी तरु तले बसेरा करें। लेकिन दुखीश्याम बाबू को यह पसन्द नहीं आया। इसलिये स्टेशन में भोजन

करने बैठे।

भोजनोपरान्त हमारा काफिला सम्बलपुर की ओर चल पड़ा। शाम के समय सम्बलपुर पहुँचे। स्वामीजी के साथ मैं भी श्रीयुक्त विप्रचरण दास के बँगलें में ठहरा, श्री विप्रचरण दास जिला जज थे। वे आजकल हीराकुद जमीन के लिये अर्थ प्राप्त करनेवालोंके लिये मुख्य विचारक और पथ-निर्देशक भी हैं। उनका रहन-सहन और बात-व्यवहार मुग्धकारी था। शाम को आपने सम्बलपुर को केंद्र मान कर भ्रमण कार्य-क्रम बना डाला। हम लोगों ने उसे स्वीकार किया।

मैं उनके व्यवहार और सादगी पर मुग्ध था। अपने कार्य के साथ अथिति-सत्कार को नियमित चला रहे थे। वे राष्ट्रभाषा के समर्थक एवं प्रेमी हैं। इस मामले में वह सुन्दर योजना बता गये हैं। स्कूल कालेजों में किस प्रकार से हिन्दी का प्रवेश हो सकता है ; किस प्रकार प्रोत्साहित किया जा सकता है ; बता गये हैं।

दूसरे दिन सबेरे राष्ट्रभाषा कार्य के प्रथम हम लोग हीराकुद देखने चले। मैंने हीराकुद बाँध का श्रीगणेश होते देखा था। उस समय बाँध का एक रेखा-चित्र सामने था।

ओड़िशा में महानदी पर बाँध बाँधना नवीन उद्यम था। और सभी के लिये आश्चर्यमय था। मिट्टी की ताकत की अजमायश इसी हीराकुद में हुई। बाँध बंध गया। पहाड़, पत्थर जो अंगड़ाइयाँ लेते थे, पथ से हटा दिये गये, मशीनों से पीस दिये गये। ४–५ मील तक फैले पहाड़ों की उपत्यका में

तथा टीलों में वारिराशि दूसरे समुद्र की याद दिलाते हैं। वहाँ की दुनियाँ ही विचित्र थी। स्वामी जी और दुखीश्याम बाबूने अपनी दीर्घ वर्षों की पुष्ट निगाहों से देखा। कितना नयनाभिराम है, वहाँ का नजारा! जवाहर मीनार के ऊपर से हमने हीराकुद के संसार को देखा। जिधर देखते नया ही नया नजर आता। मैंने अपने जीवन में यहाँ यह वारि भण्डार पुरी समुद्र के बाद ही देखा था। मन करता कि कुछ दिन यहीं बिताएं। कितना शान्तिमय वायु-मण्डल है यहाँ का? लेकिन पता लगाया कि आप देख तो सकते हैं, लेकिन यहाँ रहने के लिये आप की टेंट में बल नहीं है। यह गरीबों की भोग्य वस्तु नहीं है। किन्तु, जो गरीबों की भोग्य वस्तु नहीं, वह चिर स्थायी कैसे? इस प्रश्न का उत्तर तो समय देगा। दैनिक ४५ रुपये खर्च होते।

इसमें हजारों गाँव डूबे हैं, हजारों एकड़ भूमि इसके जल-उदर में है, जो यहाँ के वासी थे, अन्यत्र जा चुके थे। कुछेक को सरकार ने पैसा दे दिया था, काम भी पा चुके थे। परन्तु, जिनको कुछ भी नहीं देना चाहिये था, आज वही लाखों का वारा-न्यारा कर रहे हैं।

हीराकुद मानव-सम्पत्ति है। उसके लिये किसी व्यक्ति विशेष को घाटे की कमी पूर्ति, उचित होते हुए भी अनुचित है।

वहाँ से चलने को जी नहीं करता था। परन्तु वहाँ रहने की शक्ति भी नहीं थी। साधन भी नहीं था।

सम्बलपुर में हिन्दी प्रचार कार्य के बारे में स्वामीजी

तथा मैंने वहाँ के प्रसिद्ध वकील बनमाली बाबू से मुलाकात की। वह इस काम में बड़े ही दिलचस्प साबित हुए। उनसे मिल कर बड़ी प्रसन्नता भी हुई। एक सभा भी हुई जिसमें राष्ट्र-भाषा के सम्बन्ध में बातें हुईं।

दूसरे दिन सुन्दरगढ़ गये। यहाँ जो प्रचारक थे, उनको खोजने में देर लगी। गरमी के दिन, पानी नहीं था। कई स्थानों से पता लगवाया गया। लेकिन स्वामीजी के एक सम्बन्धी डिप्टी-कलेक्टर थे, वह भी स्वामीजी को खोजते आये, और अपने घर ले गये।

दिन के १।।–२ बजे थे। भूख और प्यास एक साथ सता रही थी। हमारे साथ सामान था लेकिन पानी नहीं था। जगमोहन बाबू के यहाँ शीघ्र व्यवस्था हुई। गरमागरम भोजन आया। कितना स्वादिष्ट लगता है, यह अनुभव हुआ। सबसे मजेदार बात यह कि इतनी जल्दी बन कैसे गया।

भोजनोपरान्त प्रचारक आये। स्थानीय वकील आये। हिन्दी प्रचार की बातें हुईं। कई सज्जन बोले—इनको हम होटल में रोज देखते हैं, पर परिचय नहीं था।

यह राष्ट्रभाषा के कर्मी की कमी है कि अपने को वहाँ परिचित न करा सका। जो भी हो, स्वामीजी ने उपस्थित लोगों को राष्ट्रभाषा का महत्व बतलाया, स्वराज्य में उसकी आवश्यकता बतलाई, एकता की कुञ्जी बतलाई।

शाम के समय फिर सम्बलपुर के लिये रवाना हुए। कारण, सुन्दरगढ़ सम्बलपुर से ४०–५० मील है, जो मोटर के

लिये अधिक से अधिक २ घण्टे का रास्ता है।

सम्बलपुर रात ८ बजे पहुँचे। हमें ६ बजे पहुँच जाना चाहिये था—ऐसी योजना श्रीयुत विप्रचरण दास ने बनाई थी। लेकिन दो घण्टे की देरी हो गई। वे चिन्तित थे।

मैं मरीज था। १६४० से बवासीर ने मुझ पर अपना पूर्ण अधिकार जमा लिया था। वह इस समय जोरों पर था। मुझे अपने पर रंज हो रहा था। नाना प्रकार के परहेज, पचीसियों दवा मैं कर चुका था। प्रसिद्ध शक्तिशाली होमियोपैथिक मैं साथ लिये था। लेकिन कुछ भी न बनता था।

महानदी की बालू में मैं शौच करने गया तो इतना खून गिरा कि मैं देखकर ही चकरा गया। बड़ी मुश्किल से आया। अपनी इस लायकी और अपनी विचित्र सम्पत्ति की चर्चा कैसे करूँ? मन में अपने पर रंज हो आया। निश्चय कर लिया कि कटक जाते ही इसको कटा दूँगा।

सम्बलपुरसे फिर बलांगीर चले। बलांगीर सम्बलपुर से ८० मील है। शाम तक पहुँच जाने की सम्भावना थी। पथ में भोजन का सामान था, फिर भी बरगड़ में एक मारवाड़ी होटल से कुछ रोटियाँ मंगवाई। स्वामीजी का आग्रह था कि आज का भोजन किसी वृक्ष के नीचे होगा। इसलिये बरगड़ का डाक बंगला छोड़ चुके थे। आगे बढ़े, ५–१० मील चले गये। एक निर्जन स्थान पर जहाँ कि पेड़-पत्तियाँ हमारे स्वागत के लिये खड़ी-सी थीं, हम लोगों ने अपना डेरा डाल दिया।

कितना मनोरम था वह दृश्य और भोजन! स्वामीजी

ने कहा—साधु लोग तो चित्रकूट और ऋषिकेश में ऐसे ही किसी पेड़ के नीचे बैठ कर भोजन खाते होंगे।

ऐसा लगा कि स्वामीजी की बुद्धि और मन में द्वन्द मचा हुआ है। बुद्धि सन्यास की ओर खींचती है, और मन परिवार की ओर।

आगे बढ़े, तो बरपाली मिली। यहीं महाकवि गङ्गाधर मेहेर का जन्म स्थान है। वे उत्कल के नामी कवि हो गये हैं। उनकी प्रतिमा के दर्शन किये। यहीं पर कुछ अमरीकन एक आश्रम बना कर रहते हैं। वे अपने ढंग की सेवा संस्था बना रहे हैं। कुछ नये-नये काम बतलाते हैं। उनका चलता पायखाने की व्यवस्था अच्छी लगी। यह गाँव-गाँव में बर्ती जाने वाली वस्तु है।

वहाँ खैरी और चम्पा रंग की साड़ियाँ पहिने अमरीकन युवतियाँ बहुत सुन्दर लग रहीं थीं। उनके कार्य में आकर्षण था।

शामको बलांगीर पहुँचे। यहाँ पंडित आदिकंदजी पहले से ही इन्तजार में थे। लेकिन जब हम पहुँचे तब वे दूसरे स्थान को देखने चले गये थे। हमारा यह परिचित स्थान था। हम-लोगोंने अपना स्थायी-मठ काँग्रेस भवनको ही पाया। सौभाग्य से जिसको खोजते थे, वही स्थान मिला। रातको वहीं डेरा डाला।

स्वामीजी को आया जान, काँग्रेस के मंत्री, सभापति तथा कितने अन्य सज्जन मिलने आये। हिन्दी के प्रचारक तथा

पण्डित आदिकन्द जी भी आये। हिन्दी प्रचार के सम्बन्ध में सभी से बातें हुई। कुछ वकीलों से मिलने की भी बातें हुई थी। लेकिन स्वामीजी उदास थे। यहाँ काँग्रेस हार चुकी थी। उस दिन तमाम रात काँग्रेस में यही खबर मिलती रही कि काँग्रेस चुनाव में हार रही है।

किसी ने कह दिया——महताब बाबू हार गये हैं। स्वामीजी के लिये यह मर्मभेदी समाचार था। वे बेहद दुखी हुए, कहा——पाठक जी, यह घटना उत्कल के लिये दुर्भाग्य की है। महताबजी को छोड़कर इस समय ओड़िशा में कोई नहीं जो उसकी रक्षा कर सके। परन्तु मुझे इस सम्बन्ध में विश्वास नहीं होता। महताबजी क्यों हारेंगे? अगर ऐसा हुआ तो समझना चाहिये कि उत्कल की जनता मर गई है। और उसे मर जाना चाहिये। वह बचने की अधिकारी भी नहीं है।

इसी समय तार मिला——बहुत अधिक मत से महताब बाबू विजयी हुए, विरोधी की जमानत जब्त हो गई।

यह समाचार पाकर स्वामीजी के आनन की कान्ति देखने लायक थी। वे कितने खुश हुए, इसकी थाह पाना कठिन था। यह देश जाति-प्रेम का निदर्शन था।

सबेरेका समय था। सोनपुर जानेका कार्यक्रम बना था। नाश्ता की तैयारी होने लगी। स्वामीजी ने नथिया को मीठा लानेके लिये बाजार भेजा। मीठा आ गया। लेकिन जितना आया था, उस अनुपात से आदमी कहीं अधिक हो गये। फलस्वरूप एक वस्तु एक आदमी को कम पड़ गई।

स्वामीजी का पारा चढ़ा, बोले—हैरे नथिया, तूने मेरी नाक काट ली ना आज ? अरे बदमाश तू मेरे पास ३० सालसे है, अभी तक मालूम नहीं कर पाया ।

नथिया बोला—मैं क्या करता । लोग अधिक आ गये, और बैठ गये । लाने का समय भी नहीं था । बात भी ठीक थी । मैं चुप था ।

स्वामीजी—तो तू चाकू से काटकर रसगुल्ले को चार टुकड़े क्यों न कर दिया ? तू मेरा अपमान करने आया है । मार कर निकालूँगा । समझा क्या है ? तू तो चार भाग कर देता ।

मैं बोला—स्वामीजी, आप क्यों रंज होते हैं । यह तो काँग्रेस वालों का दोष है । उनको देना चाहिये था । और फिर बिना जाने सभी आ धमके । वह क्या करता ?

स्वामीजी—बड़े दुखकी बात है पाठकजी ! मैं इस प्रकार अकेले खा नहीं सकता । यह जानता है बदमाश । कम हो तो कम सही—लेकिन मिले तो सब को ।

मैं—लेकिन बाँटते समय वे थे नहीं । बाद में आये हैं ।

नथिया चुप था । मारे रंज के खाया ही नहीं । यह बात स्वामीजी ने मोटर में सुनी । मैंने कह दिया था, मेरा ख्याल था इस पर वह जरा प्रसन्न होंगे । लेकिन, बहुत नाराज हुए । बोले—हैरे नथिया, तू मुझे कष्ट देने के लिये ही पैदा हुआ है न ? मैं पूछता हूँ, तू यहाँ क्यों आया है ? नहीं खाया, न

खा। बोल क्या है ?

नथिया—चूड़ा है, चिनी है, नारियल है, और एक माल-पुआ है ।

स्वामीजी—अरे बदमाश ! खाया भी नहीं, और मीठा वहाँ दिया भी नहीं ?

नथिया—बाद में आया था। उनको मैंने पीछे दे दिया है ।

स्वामीजी—दिया है ?

नथिया—जी हाँ !

स्वामीजी—तो तू क्यों नहीं खाया ? है रे नथिया ! तू समझता है मैं तुझे मनाऊँगा; तू रूठेगा, और मैं तुझे मनाऊँगा। तू मेरे पास ३० साल से है। तुझे अभी तक अक्ल नहीं आई। है रे नथिया तू मेरा अपमान करने आया है ? है रे नथिया, तो तू उनको मीठा दे दिया है। है रे नथिया, तुझे अक्ल नहीं है। है रे नथिया, तो तू क्यों नहीं खाया ? जा खा ले नहीं फिर कभी भी साथ नहीं लाऊँगा।

स्वामीजी की वाणी में अब नम्रता थी, प्रेम था, स्नेह था। जब उन्होंने सुना कि उन सज्जन ने मीठा खाया है, तो मन का मैल धुल गया था। उनकी नथिया के साथ की बातों पर मुझे हँसी आ गई थी, और मैं जोर से हँस पड़ा। आपने मेरी ओर देखा और हँसी में शामिल हो गये।

स्वामीजी में एक बड़ा गुण है कि वह हँसी से नाराज नहीं होते। बल्कि, प्रसन्न होते हैं। उनको किसी का रोना-मुख

देखना पसन्द नहीं है। उदासीनता से उनको घृणा है। वे बेहद खुशमिजाज हैं, आनन्दी जीव हैं। मुझे वे इसीलिये प्यार करते हैं कि उनकी अनेक बातें मुझे रस देती हैं ; हँसी देती हैं। और मैं हँसा कि लगे अपने ढंग की आप बीती बातें कहने। वकीलों के सम्बन्ध में तथा मुवक्किलों के सम्बन्ध में अनेक मजेदार कहानी वे सुनाते।

एक कहानी स्वामीजी ने यह सुनाई थी :—

कलकत्ते के एक बार-ऐट-ला ने मुवक्किल से कहा—देख, मैं तुझे मुकदमें जिता दूँगा। लेकिन १५ हजार रुपये लूँगा। मैं जो कहूँ उसका उत्तर तू केवल "भ्याँ" देना। बात तय हो गई। वकील और मुवक्किल हाकिम के सामने खड़े हो गये। हाकिमने पूछा—तुम्हारा नाम क्या है ?

मुवक्किल—भ्याँ !

हाकिम चकराया। परन्तु, नाम तो लिखना ही पड़ा।

हाकिम—तुम्हारे पिता का नाम ?

मुवक्किल—भ्याँ !

हाकिम—जाति ?

मुवक्किल—भ्याँ !

हाकिम—तुम इसको जानते हो ?

मुवक्किल—भ्याँ !

अदालत में ठहाका मचा। हाकिम भी अपनी हँसी रोक न पाया।

वकील—हुजूर, यह आदमी पागल है, और गूंगा भी।

हाकिम ने मुकदमा खारिज कर दिया। बाहर आकर वकील ने कहा——ला दो रुपये।

मुवक्किल——भ्याँ!

वकील——कैसा पाठ पढ़ाया है?

मुवक्किल——भ्याँ!

वकील——रुपये निकाल, बदमाशी न कर।

मुवक्किल——भ्याँ!

वकील को उसने एक रुपया भी नहीं दिया। वकील अपना-सा मुँह लेकर चला गया। उनको जो वकील देखता, कहता——वकील साहब! भ्याँ!

हमलोग सोनपुर पहुँच गये। सोनपुर उत्कल के इतिहास में प्रधान स्थान रखने वाला है। कितने प्राचीन राजाओं की राजधानी तथा आश्रय-दाता रहा है। हमलोग डाकबंगला में ठहरे। वहीं भोजन किया। श्री युधिष्ठिर मिश्र, राष्ट्र-भाषा के प्रचारक वहीं मौजूद थे। स्कूल में चार बजे मीटिंग है। जो राष्ट्रभाषा परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुए हैं, उनको प्रमाण-पत्र तथा पुरस्कार दिया जावेगा। यह खबर दे, वे अपने काम से चले गये। हमलोगों ने भोजन किया। नथिया भी होटल जा खा आया। मछली खाई, हमारा कृष्ण भी उसका साथी था।

भोजनोपरान्त मैंने डाकबंगले में रहनेवाली ७० वर्षीय वृद्धा से पूछा——तुमने किसको वोट दिया है?

बुढ़िया——राजा साहब को!

मैं——काँग्रेस को क्यों नहीं दिया?

बुढ़िया—उससे हमारा कुछ भी लाभ नहीं ।

मैं—आजकल कितने रुपये मिलते हैं ?

बुढ़िया—१८ रुपये !

मैं—पहले कितने मिलते थे ?

बुढ़िया—५ रुपये ।

मैं—आजकल १८ रुपये मिलते हैं, तो तू काँग्रेस को कहती है कुछ लाभ नहीं, पहले ५ रु० मिलते थे, फिर भी राजाओं को अच्छा मानती हो ?

बुढ़िया—पहले राजा थे—रास्ते में मोटर जाते देख हम लोग खड़े होकर नमस्कार करते। जो कुछ कहते उसी समय हो जाता। आजकल एक काठ के लिये २–३ रुपये देकर अंग्रेजी में प्रार्थना-पत्र लिखवाओ। फिर अमुक साहब के पास जाओ। अमुक साहब, अमुक साहब करते प्रार्थना-पत्र कटक तक जाता है। एक साल इसमें लग जाता है। पैसे खर्च होते हैं सो अलग, फिर भी काम नहीं होता। मकान गिर जाते हैं। जंगल से लकड़ी नहीं ला पाते। पहले घर के लिये हम जाकर जंगल से काट लाया करते थे। कुछ भी नहीं देना पड़ता था। अभी १० दिन हुए कि हमारे गाँव का एक आदमी जंगल से घर के लिये लकड़ी काट लाया था। लकड़ी का दाम २–३ रु० होंगे। उसका जुरमाना २० रु० देना पड़ा उसे।

मैंने कहा—स्वामीजी, आपने सुना ? कैसा भयानक शासन का चित्र इसने खींचा है। मामूली-सी बात, कितना काम कर गई है। काँग्रेस यहाँ वोट नहीं पा सकी। काँग्रेस को

बदनाम करने वाले केवल अफसर ही हैं। ये मंत्री लोग भी हमेशा उनके ही कथन के गुलाम बने रहते हैं।

चार बजे हाई-स्कूल की सभा में पहुँच गये। काफी संख्या में छात्र तथा स्थानीय सज्जन उपस्थित थे। स्वामीजी ने छात्रों को प्रमाणपत्र तथा पुरस्कार दिया। और राष्ट्रभाषा सीखनेके लिये प्रोत्साहन दिया। मैंने भी राष्ट्रभाषा का महत्व बतलाया और कुछ पुस्तकें देने के लिये कहा।

इस स्थान पर कम संख्या में छात्र परीक्षाओं में बैठते। लेकिन उत्साह सुन्दर था। प्रधान शिक्षक भी हिन्दी के प्रेमी मालूम देते थे।

हमलोग शाम को फिर सम्बलपुर के लिये चल पड़े। जिस रास्ते से कटक लौटना था, बरसात के कारण उसका पुल ही टूट गया था। इसलिये वही महाजन मार्ग, अपनाना पड़ा था। हमलोग कटक वापस आ गये।

स्वामीजी के साथ भ्रमण करने में आनन्द मिलता है। मनको शान्ति मिलती है। योंतो मुझे अनेक बार स्वामीजी के साथ भ्रमण करने का तथा दर्शनीय स्थान देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। परन्तु १९५१ में दक्षिण-भारत भ्रमण अपना स्थान रखता है।

भाषा कमीशन

आज तक जो कुछ होता था, होता था; पर भारत सरकार ने और सबसे बड़ी गलती की भाषा कमीशन बैठा कर के। संविधान में जो भाषा आ गई, बहुमत से पास हो गया उस पर फिर काम न करके कमीशन बैठाना, यह विरोध भावना को उसकाना है। इसीका फल है कि खुले-आम तमिल के अंग्रेजी भक्त और बंगाल के अंग्रेजी भक्तों ने खुल कर अंग्रेजी को आलिंगन करते रहने का प्रेम भाव जाहिर किया है। फिर भी बहुत से अन्यान्य प्रान्तों ने तो हिन्दी का समर्थन किया। हमारे उत्कल के उत्कल विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि श्रीयुत महेशचन्द्र प्रधान ने तो कालेज में भी हिन्दी को माध्यम बनाने का मत दिया। उनका कथन है—सभी विश्वविद्यालय के साथ शिक्षा एक-सा ज्ञान के लिये हिन्दी का माध्यम करना आवश्यक है।

जो हो, भाषा कमीशन ने विद्वानों को लेकर सभी प्रांतों का दौरा लगाया। उसमें २१ सदस्य थे। सभी नामी विद्वान और राष्ट्र प्रेमी थे, ऐसा नहीं कहा जा सकता। लेकिन, खेर साहेब पर तो पूर्ण विश्वास किया जा सकता है।

उन्होंने अपनी रिपोर्ट समय पर दे दी, और चलते बने। मानो इसी काम के लिये यहाँ ठहरे थे। उस पर भी कागजों में लगी अटकलपच्चू बातें होने। अंग्रेजी पत्रने तो, धोती खोल कर

फेंक दिया था। या यों कहें कि भारतीयता को तिलांजलि दे दिया। अगर हम कहें कि यदि आज भारत न होकर रूस होता, या जवाहर लाल न होकर स्तालिन या हिटलर होते तो गुलामी की समर्थन करने वाले पत्र परिणाम की कल्पना कर सकते थे।

हमने जब यह पढ़ा था कि स्तालिनने श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित का परिचय पत्र अंग्रेजी में होने के कारण वापस कर दिया था, मुलाकात करने की अनुमति नहीं दी थी, बाद में हमारे राष्ट्रपति जी ने और पूज्य टण्डन जी ने उस परिचय पत्र का हिन्दी अनुवाद किया और भेजा गया तो भी उस पर वहाँ के विशेषज्ञ ने दो भूलें निकाली थीं, जिसे उक्त दोनों विद्वानों ने कबूल किया है, तो मन में बड़ी प्रसन्नता हुई थी और दुख भी होता है कि एक ओर राजदूत को धक्का मिलता हैं, हिन्दी व्यवहार न करने पर, और दूसरी ओर हमारे स्वाधीन भारत के नेतागण अंग्रेजी की लोच पर जान देते हैं। उनको इतने पर भी सीख नहीं मिली है। राजाजी की बात ही और है, वे तो अंग्रेजों के पूर्व आन्तरिक भक्त के पीछे-पीछे अंग्रेजी को बनाये रखने के लिये हवाई जहाज से उड़कर बंगाल आये थे। कुछ लोग तो यह भी कहते हैं कि अंग्रेजी की रक्षा करने के लिये विलायत से इस काम के लिये लाखों रुपये आ रहे हैं। उनको मालूम है कि भारत में अंग्रेजी का प्रचार कैसे हुआ है। पैसे से बड़े-बड़े राष्ट्र खरीदे जा सकते हैं, यह काम तो कुछ इने-गिने व्यक्ति-विशेष से संबंध रखता है।

अंग्रेजी साहित्य प्रचारक संस्था तथा विक्रेताओं ने देखा कि अगर भारत का बाजार भी हमारे हाथ से गया तो फिर 'फिर वही दिन, फिर वही रतिया' आने वाली है।

इससे लज्जा की और क्या बात हो सकती है कि स्वाधीन भारत के संविधान सभा में अंग्रेजों के प्रचारक एन्थोनी एम० पी० बने हैं। वह खुलेआम विरोध करते हैं। उनकी सारी खबरें विलायती पत्रों में आनन्द के साथ छपा करती हैं।

यहाँ भी उसका आदर होता है। क्या इंगलैण्ड और अमेरिका भी कभी सहन कर सकते हैं? उनके नेता क्या कभी ऐसी उदारता को कमजोरी नहीं कहेंगे? वे यहाँ के दिमाग की बुनियादी सूझ पर हँसते होंगे, इसमें जरासा भी शक नहीं है।

हिन्दी भाषा

यह कहना कि "हिन्दी कोई भाषा नहीं, उसमें कोई साहित्य नहीं है, वह किसी प्रांत-विशेष में बोली नहीं जाती, उसमें विज्ञान की पुस्तकें नहीं हैं" उचित नहीं ।

इन बातों पर विचार करने के प्रथम हमें दो बातों पर विचार करना है । एक तो भाषा और दूसरा उसका साहित्य । इन विषयों पर चर्चा करने से अन्य बातों का उत्तर धीरे-धीरे स्वत: आ जाता है ।

भाषा को जानने के प्रथम हम अपने पाठकों को वहाँ साथ चलने के लिये निमंत्रण देते हैं जहाँ कि 'मैं' एक है दूसरा और कोई नहीं है । और फिर कुछ काल के बाद 'वह' हुआ । 'एक' जब तक था तब तक मुख की और मुंह की ध्वनि की आवश्यकता अनुभूति नहीं होती थी, लेकिन वह 'स:' पैदा हो गया तो मुख की ध्वनि की जरूरत पड़ी । 'वह' के लिये केवल एक गोलाकार शब्द की ही आवश्यकता पड़ी-सी रही हो । लेकिन, 'वह' जब पैदा हो गया तो फिर तीन का पाली भी आ जा सकती है । 'वह' और 'मैं' के साथ का माध्यम कराने वाला 'भी' बन गया और उस में दो अक्षर मिल गये । जिनके साथ की ध्वनि निकली 'भाषा', उस समय दो जनों का साम्राज्य था, राष्ट्र था । उनकी भाषा भी एक ही दो शब्दों की रही होगी । इन बातों पर केवल अनुमान को प्रमाण मान कर आगे

बढ़ना होगा। मैं आखों देखी घटना का वर्णन तो नहीं करता। मैं एक अनुमानके बल पर तर्क उपस्थित कर रहा हूँ। हाँ, तो उनका राष्ट्र बन गया। उनके राष्ट्र की भाषा भी बन गई थी। अवश्य अभी कल तक साधारण भाषा को राष्ट्रभाषा नामकरण नहीं हुआ था। यह तो राष्ट्रपिता महात्मा गाँधीजीकी देन है। भाषा को मान्यता तो दी थी केशव सेन, बंकिमबाबू, राममोहन रायने।

भाषा अब बन गई थी। उनको लिपि की आवश्यकता नहीं थी। घरमें क्या कभी लिपि की जरूरत होती है? बेटा आ, वहीं आ कह कर पुकार लेते हैं। उसी प्रकार मैं, ने सः को बुला लिया होगा। कण्ठगत भाषा थी और यह क्रम बहुत पीछे से युग तक चला आया है।

मानव की धीरे-धीरे संख्या बढ़ी। संख्या बढ़ी तो स्थान की आवश्यकता आ पड़ी। और आवश्यकता ने ही सर्वत्र सार्व-भौम का विकास किया। कोई काम पड़ता, आदमी जाता बुला लाता। बेटा, बेटी, नाती, पोते का ही तो परिवार था। कोई दिक्कत नहीं थी।

उसी 'मैं' और 'सः' के लिये अथवा इन्हीं कथोपकथन के फलस्वरूप ऋग्वेद का जन्म मान लेना होगा। इस संख्या वृद्धि के साथ ऋग्वेद के कलेवर की वृद्धि हो सकती है।

उस समय जो चिन्ता स्वतः उत्पन्न हुई, वही ऋग्वेद का अनूठा ज्ञान है। कल्पना जैसे जैसे सफल होती गई और मन में उत्पन्न भाव साकार मूर्त बनते गये। कैसे और किस प्रकार बने, बनने के क्या क्या कारण हैं, आदि बातें ऋग्वेद में आती रही।

उस समय एकमात्र संग्रह सागर तो ऋग्वेद मात्र था।

जैसे-जैसे परिवार की संख्या में वृद्धि होती गई, वैसे-वैसे जमीन समथर बनाई जाने लगी। लोग धीरे-धीरे फैलने लगे। यह फैलाव दुनियाँ में लाखों और करोड़ों तक की संख्या में बढ़ गया, और बढ़ते-बढ़ते आज इतनी बड़ी विशाल दुनियाँ कहलाने लगी।

किसी जमाने में तो भाषा एक थी। जसे अलगाव दूर-दूर तक चला गया, भाषा में भी दूरता आती गई। देश, काल, पात्र के अनुसार मुख की आकृति बदली, मुखाकृति बदलने के कारण ध्वनियाँ बदलीं, और ध्वनियाँ बदलने के कारण ही आज संसार में भाषा का नाना रूप सामने आ रहा है।

जो जहाँ बसा गाँव, नगर, देश और राष्ट्र बन गया। जहाँ रहने लगे वहीं अपना घर बन गया और जब निज बल बुद्धि के प्रभाव से ये सारी चीजें उपार्जित हुई तो हमारा अहम् भाव बोला। इसी अहम् भाव ने संसार में नंगा नाच आरम्भ किया है। नाना राष्ट्रभाषा बनी, नाना राष्ट्रि बने। उनमें भारत राष्ट्र भी एक है। यह सर्वउन्नतमय राष्ट्र सर्वप्रथम माना गया है। यहाँ की भाषा ऋगवेद की भाषा थी। जिसका संस्कार करके विद्वानों ने संस्कृत का रूप दिया है। इसके पहले अपभ्रंश, पाली आदि भाषायें प्रचलित थीं।

समूचे भारत में संस्कृत का रूप समान था और है। देववाणी कही जाने के कारण इसका मान सर्वत्र है। लेकिन, एक समय ऐसा था जब कि संस्कृत को बहुतेरे नहीं पढ़ते थे।

लोगों का ख्याल था कि अगर साधारण भाषा बन जायेगी तो उसके उच्चारण ध्वनियों में अन्तर आ जायगा। उसमें जो ब्रह्म-शक्ति है नष्ट हो जायेगी। आखिर वही हुआ भी।

अंग्रेज आये, संस्कृत के अनूठे साहित्य के इस माधुरी को चखना चाहा। प्रथम-प्रथम तो लोगोंने सिखाना पाप समझा। लेकिन, लक्ष्मी का रूप बड़ा ही मोहक होता है। अर्थ मिला, और लोग लगे घर-घर जा सिखाने।

अंग्रेजी की व्यापकता को यहीं से एक पथ मिलता है। चाँदी के टुकड़ों की वर्षा देख लोग चले हरी नोट लूटने। और चाँदी ने अपने रूप, लोच से लोगों की आँखोंको चौंधिया दिया। जिसका फल यह है कि राजाजी जैसे आदमी कहने लगे हैं कि भारत राष्ट्र की राष्ट्रभाषा अंग्रेजी होनी चाहिये। अंग्रेजी के लिये राजाजी भारत को खण्ड-खण्ड कर देना चाहते हैं।

भारत में एक भाषा की परमावश्यकता सर्वप्रथम बतलाया गुजराती ब्राह्मण स्वामी दयानन्द सरस्वती ने। आप संस्कृत के साथ-साथ हिन्दी का प्रचार करते रहे। उसी में बोलते और उसी में लिखते तथा साहित्य छापते रहे।

गाँधीजी आये, उन्होंने हिन्दी को नया रूप दिया। उसको राष्ट्रभाषा कहने लगे। वह भारत-राष्ट्र की राष्ट्रभाषा बन गई। लोगों ने सादर अपनाया। किसीका इसमें विरोध भाव नहीं था। १९४६ में अंग्रेज गये, पर अंग्रेजी को छोड़ते गये। बोले तुम्हारी तो अपनी भाषा है नहीं जो सभी प्रांतों में समान लिखी पढ़ी जाय।

सब लोगों ने बात सही जानी। तैयारी करने का समय निर्धारित किया गया। उसमें भी यह तर्क उपस्थित हुआ कि हिन्दी वाले अधिक नौकरी पा जायेंगे। मानो सभी हिन्दीवालों को नौकरी मिल ही जाती है। अगर उसी समय अंग्रेजों के साथ-साथ अंग्रेजी को भी धक्किया दिया गया होता तो आज भाषा संबंधी जो विवाद अंग्रेजी ने खड़ा किया है, न होता।

रही साहित्य की बात, तो वही साहित्य है जिससे देश, जाति और समाज का मंगल साधन किया जा सकता है। साहित्य की परिभाषा तो पण्डित जो भी करें, लेकिन, उन्नत साहित्य तो वही है जिससे लोकहित का कार्य हो। अंग्रेजी से लोकहित कार्य नहीं होते हैं। अतएव वह भाषा भारतीय समाज के लिये तो हितकर कभी हो ही नहीं सकती है। वह तो केवल कुछ नौकरशाही के मेजों की भाषा है। फाइलों का साहित्य है जो उससे कहीं अधिक हिन्दी में किया जा सकता है। हाँ, अंग्रेजी में जो हो, अगर हिन्दी में आता है तो वह भारतीयों के अन्दर की भाषा-साहित्य बन जावेगा। परन्तु, जिस साहित्य की कल्पना की जाती है, वह पेट का सवाल हल करने का है। वह सामूहिक नहीं, कुछ इने-गिने लोगों के लिये है।

जन-मन मंगल करने वाले साहित्य की भावधारा कुछ और ही हुआ करती है। उसकी चिन्ताधारा का प्रभाव भिन्न होता है। वह चिन्ताधारा है आध्यात्मिक, जिसको कि वर्षों के बाद नेपाल में पं० जवाहरलाल नेहरू ने व्यक्त किया है, और लंका में डा० राजेंद्र प्रसाद ने कहा है। यही है जीवन मूरी।

जिसके द्वारा संसार के आसय एक बन सकते हैं। सम चिन्ता, सम आकांक्षाएँ, सम आवश्यकताएँ तथा सम भाव पैदा किया जा सकता है। ऐसा होने के बाद ही आप जिस किसी को संसार की भाषा मान सकते हैं। लेकिन, अंग्रेजी तो कभी हो नहीं सकेगी। कारण, उसकी बुनियाद ही गलत रास्ते पर है। हाँ, अगर संसार को उन्नत भाषा और उन्नत साहित्य मानता है, तो संस्कृत को मानना पड़ेगा। वही एकमात्र है जो कि संसार के मानव की मंगलमय कामना कर सकी है। कह सकती है। और उपदेश देना भी शोभा देगा। कारण, उसका साहित्य ही इसी बुनियाद पर बना है। वह आज से नहीं बल्कि, हजारों सालों से कहती है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुखभाग्भवेत् ॥

यह उक्ति छल-कपट की नहीं, न अंग्रेजी भाषा की राजनीतिक बू ही आती है।

काम प्रथम : भाषा पीछे

भाषा जब बन जाती है तो उसका साहित्य भी तैयार होता जाता है। जरूरत है केवल काम करने वालों की, लगन की। कुछ जानने की स्पृहा से काम कैसे किया जा सकता है। एक नमूना लीजिये :——

डाक्टर हरेकृष्ण महताब (प्रधान मंत्री, उत्कल) जापान गये थे। उन्होंने अपनी जापान यात्रा की घटना बतलाई। उन्होंने कहा—— मैं जापान गया तो एक बिजली-बत्ती के कारखाने को देखने गया। उन लोगों ने मुझे एक मेज की बिजली-बत्ती (टेबल-लैंप) भेंट किया। तब मैंने पूछा——इसको जापानी भाषा में क्या कहते हैं? उन लोगों ने तुरन्त नाम बतला दिया। मैंने कहा—— भारतीय भाषा में इसका नाम कितना मुश्किल है? उस पर उन लोगों ने कहा——भारतीयों में और हममें अन्तर है। भारतीय प्रथम नाम खोजते हैं, और हम काम। काम होने के बाद नाम अपने आप आ जाता है।

कितना चुस्त उत्तर है। बालक के जन्म के बाद ही उसका नामकरण किया जाता है। यहाँ तो प्रथम नाम खोजेंगे कि इस शब्द का क्या अनुवाद हो सकता है? काम का पता नहीं है।

अनुवाद-मात्र ही साहित्य नहीं है। जातिगत चिन्ता साहित्य है। फाइलों के लिये तो मामूली साहित्य की जरूरत

है। मेरा ख्याल है कि अगर हिन्दी की २५-३० क्रिया सीख ली जाये तो सारा दफ्तर का काम किया जा सकता है।

हिन्दी में साहित्य नहीं है, यह तो वही कहते हैं, जो नहीं जानते। हिन्दी में अंग्रेजी से बढ़कर काम होगा। लोगों की आँखें खुल जायेंगी। और वह संसार भर में सुन्दर सरलता के साथ व्यवहार में लाई जा सकेगी। प्रथम जरूरत है काम करने वालों की। काम करने में केवल तर्क से काम नहीं चलेगा। अगर तर्क ही करते रहें तो गाड़ी हमेशा स्टेशन पर ही खड़ी रह जायेगी। और लोग मर जायेंगे बिना खाना और पानी के।

मैं अनुभव करता हूँ कि अधिकांश लोग जो कि पढ़े-लिखे कहे जाते हैं, अंग्रेजी के भक्त बनते जाते हैं। उनको ग्लानि नहीं मालूम होती और न लज्जा ही आती है कि हम अगर अपने पैरों खड़े नहीं होते तो लोग क्या कहेंगे? और फिर ऐसी दशा में जब कि रूस, चीन आदि देश अंग्रेजी में पत्र-व्यवहार करना स्वाधीन चिन्ता नहीं मानते हैं, न स्वाधीन है कि कल्पना ही करते।

भारत के लिये राष्ट्रभाषा का विषय ऊहापोह का बन गया है। मालूम देता है कि यही एक बात सबको रसातल में ले जाने का कारण बनेगी। सारी नौकरी अंग्रेजी नाविकों के हाथ में है। हमारे नेता भी मुख छिपाते हैं। इस विषय को अधिक जटिल और जंजालमय बनाते हैं। उनके दिल में शायद यह नहीं बैठा है कि स्वाधीन राष्ट्र की स्वाधीन भाषा होनी चाहिये। जो विषय स्वाधीनता पाने के साथ-साथ हल

हो जाना चाहिये था, आज लाखों रुपये खर्च करके भी राष्ट्रभाषा को विदेशी भाषा जैसा व्यवहार किया जाता है, और विदेशी भाषा को राष्ट्रभाषा कहने में लज्जा अनुभव नहीं करते हैं। अंग्रेजों के पर्व-त्योहार वैसे ही पालित होते हैं। उनका धर्म वैसा ही नंगा नाचता है। उनको अंग्रेजी शासन के प्रचार करने का मौका दिया जाता है, और अर्थ भी पाते हैं।

हिन्दीवाले आगे बढ़ जाएँगे

हिन्दी वाले प्रांत भी पुरानी गुलामी के अनुसार नहीं चल पाते हैं। उनके सामने दो तर्क हैं; एक तो यह कि अहिन्दी प्रांतों के कर्मचारी जो हिन्दी नहीं जानते हैं, और दूसरी बात है हिन्दी में काम करने की हठात् तकलीफ होगी। प्रथम बात पर विचार किया जा सकता है, समय दिया जा सकता है। लेकिन, दूसरी तो तर्कहीन लगती है। बल्कि, हिन्दी वाले अगर हिन्दी में काम करने लग जायेंगे तो अहिन्दी प्रांतों के सामने एक आदर्श बन जायगा। वे भी वैसा करने की कोशिश करेंगे, लेकिन वे लोग भी हिन्दी को भुला रहे हैं। उल्टे अपनी योग्यता प्रकाशित करने के लिये अंग्रेजी में ही बोलते हैं। वे सुन्दर अभ्यास बनाये रखना चाहते हैं। वे लोग ऐसा भाव दिखलाते हैं कि मानो अंग्रेजी शासन फिर आने वाला है। इसलिये जल्दी अंग्रेजी सीख लो। इसके फलस्वरूप ओड़िशा के राष्ट्रभाषा के एकनिष्ठ समर्थक श्रीयुक्त गोपबन्धु चौधरी के विरोधी भाव भी व्यक्त हुए हैं।

अनेक बार बातों बातों के सिलसिले में भी वे चिढ़ से गये थे। जो लोग कर्महीन तथा वाहियात बातें करते हैं, वे ऐसे लोगों से चिढ़ते हैं।

वे कर्मवीर व्यक्ति थे। कोई काम उनको दिखलावे के लिये भाता न था। जो काम हो, साफ हो और ठीक हो—यह थी

उनकी नीति।

सभा का समर्थन गोपबाबू आरम्भ से करते आये हैं। इसकी चर्चा हमने आरम्भ में ही की है। यहाँ तो केवल उसकी चर्चा है, जिस प्रेरणा के बल पर यह पुस्तक लिखी गई है।

संसार त्यागने के १०–१५ दिन प्रथम वे राष्ट्रभाषा कार्यालय आये। मैंने रजत-जयन्ती का छपा परिचय दिखलाया जिसमें उत्कल का पूर्णाङ्ग परिचय का एक ग्रंथ लिखनेकी विषय-सूची थी। लेखकों का नाम भी बतलाया। मेरा ख्याल था कि वे इस पर खुश होंगे, उनसे भी एक लेख लिखवाऊँगा।

वे सब सूची पढ़ गये। नीरस आनन से बोले––यह है तो ठीक, लेकिन इससे देश का कोई खास लाभ नहीं होगा। तुम इसको तो निकालो लेकिन जिस झोंपड़ी में थे उसका फोटो और आजतक की प्रगति का सचित्र इतिहास दे सकोगे तो देशवासियों का उपकार होगा। सामने एक पथ मिलेगा कि किस हालत में थे और अब किस हालत में हैं। जैसे यह सब हुआ है, इस उद्यम से तो लोग इसमें से कुछ सीख सकेंगे।

मुझे बात जंच गई। मेरा ख्याल था कि प्रथम दिन के सभापति श्री गोपबाबू होंगे। मैंने उनसे कहा था––आप इस अवसर पर कटक रहेंगे तो उत्तम होगा।

गोपबाबू ने कहा––मैं जाता हूँ कोरापुट। सोचा चलूँ मिल लूँ। फिर न जाने कब मिलना हो। और फिर १५ दिन के बाद वे हमेशा के लिये चले गये। तब मेरे दिमाग में उनकी एक-एक बात याद आने लगी और गूँजने लगी।

मेरा दिल भर आया। मुझे लगा कि उनके समान नेता भारत में नहीं जन्मा है। उनको तो सारे भारत का पूज्य नेता बनना चाहिये था। न मालूम किस पथरोध के कारण वे पीछे रहे और चले भी गये। मैंने राष्ट्रभाषा पत्र में अपने उद्गार व्यक्त करने को सोचा था शायद चित्त को शान्ति मिलेगी। लेकिन गोपबाबू की याद मुझे अस्थिर करती रहती है। जाने के १५ दिन प्रथम वे आकर उक्त उपदेश अगर न दिये होते तो शायद मुझे अधिक न अखरता:—

"मिलने चला आया, न जाने फिर मिलना होगा कि नहीं!"

कितनी आन्तरिक भविष्यवाणी थी। इस २४ साल के बीच ऐसी भाषावाली वाणी उनके मुख से मैंने कभी भी नहीं सुनी थी। कितनी हमदर्द और कोमल थी वह वाणी।

आन्तरिक कल्पना और मनमें विद्रोह

राष्ट्रभाषा रजत-जयन्ती की कल्पना मेरी थी, कि सभी प्रांतों से २-२ व्यक्ति आवें और अपने साहित्य का परिचय दें। हिन्दी साहित्य का यह मुख्य स्थान रहे। सभी प्रवृत्तियों को सामने रखा जाय, इसमें क्या क्या प्रगति हुई है और हो रही है, सभी साहित्यकों के सामने उसका सुन्दर विवेचन हो। ऐसे विद्वानों का नाम भी चुना।

इस कितने वर्षों में मेरी चिन्ता जरा गहराई पर चलती है। मैं सोचता था कि भारतीय साहित्य ही सर्वोत्तम, सर्वोपरि है और उसमें अनूठी मानवता भरी है। संस्कृत भाषा दुनियाँ भर में एक उन्नत भाषा है। उसमें सभी विषयों के संबंध में बहुत विस्तृत समालोचना है। उसमें वशिष्ठ, विश्वामित्र, याग्यबल्क, भारद्वाज, परशुराम, अत्री आदि सैकड़ों मुनियों की चिन्ता का समावेश है। ठीक ज्ञान का भण्डार है और ऐसे ज्ञान का, जिसके कि राम कृष्ण जैसे महान नायक हैं, महात्मा बने हैं। गौतम, बुद्ध, महावीर नागार्जुन, बाल्मीकि आदि एक नहीं सैकड़ों की संख्या में एक से एक बढ़कर ज्ञानी, मुनियों, ऋषियों के कार्य चिन्ता तथा सत्संग उत्तम शुद्धपूत विचार इसमें गुहे हुए हैं।

स्वराज्य मिल जाने के बाद से जो धांधली राष्ट्रीय नेताओंने मचाई है, वैसा किसीने भी नहीं की है। यह

राष्ट्रभाषा राष्ट्र की सम्पत्ति है। उसको न सीखना जुर्म है। ऐसा किसी ने भी नहीं कहा है। बल्कि, अंग्रेजी में उच्च शिक्षा, शिक्षित कहे जाने वाले कर्मचारी जो अंग्रेजी शासन में उत्तम माने जाते थे, जिनसे जनता के साथ का कोई संबंध नहीं था, जो आज भी अंग्रेजो के राज्य का सुस्वप्न देखते हैं, उनकी बात पर चला जा रहा है। विज्ञान की दुहाई दी जाती है। भारत के रहने वाले जितने वैज्ञानिक हैं, भारतीय भाषा में एक भी ग्रंथ नहीं लिखा है। जिससे कि एक सुई भी बन सके, मार्ग निर्देश हो। जो कुछ किया है अंग्रेजी में। लेकिन, वह भी अंग्रेजी साहित्य की अभिवृद्धि के लिये ही किया है। इन वैज्ञानिकों से न तो विज्ञान कभी कार्यरूप में मूर्तवंत हो सका है और न साहित्य ही निर्माण किया जा सकता है। जिन अंग्रेजी शिक्षकों ने अभी तक यह सोचने की तकलीफ नहीं की है कि जिन लोगों ने एक भी नये शब्द गढ़ने की तकलीफ नहीं की है, जिन लोगों ने किसी भी विज्ञान को जनता के हाथ नहीं दिया है और कहा है कि इसका नामःकरण कर दो, उनसे फिर भारत का संविधान क्या आशा करता है। वे समय पर तैयारी कर देंगे राष्ट्रभाषा हिन्दीमें काम करने के लिये। वे तो उलटे यही रोना रोने लगे—— हिन्दी वाले नौकरी में आगे बढ़ जायेंगे। यह भूल गये कि योग्य व्यक्ति सर्वत्र सम्मान पाता है। यह शिक्षा संतोष नाम की वस्तु थी। उस शब्द शक्ति को भुला दिया जो दम्भ देती थी, बल देती थी। भार उठा सकने की स्पृहा देती थी संतोष देती थी।

व्यवहारिक दृष्टि से भी मैं सोचता हूँ कि आज इंजीनिय-

रिंग के संबंध रखने वाले जो विषय हैं, कुछ काल के लिये वे अंग्रेजी में चलें। लेकिन, उसको अपनी-अपनी मातृ-भाषा में चिन्ता करना, नये-नये विचार लोगों को देना चाहिये।

भारत सरकार ने शायद बड़ी बुद्धिमानी का काम समझा यह घोषणा करने में, कि हिन्दी भाषा किसी के सिर पर लादी नहीं जायेगी।

बस फिर और जितने भी लोग थे सभी उसी प्रकार चिल्लाने लगे——लादी नहीं जायेगी। लादने का प्रश्न नहीं है। सभी ने उसे प्रेम से अपनाया है, सीखने लगे हैं। उनको डर था और है कि नौकरी में आँच आ जायेगी। इस पर विश्वास दिलाने की कोशिश नहीं की गई। हिन्दी सीखने वालों को प्रोत्साहन नहीं दिया गया।

डाक्टर श्री जयकृष्ण महान्ति, एम० बि०, जो कटक मेडिकल अस्पताल के डाक्टर हैं, उन्होंने संसार के सभी देशों में भ्रमण किया है। अंग्रेजी जानते हैं, और लैटिन जानते हैं। इधर अपनी मातृभाषा ओड़िया के अच्छे जानकार हैं और संस्कृत का भी सुन्दर ज्ञान है। आपने डाक्टरी के सभी शब्दों का संग्रह किया है। उसका अंग्रेजी के साथ संस्कृत और ओड़िया में ठीक तर्जुमा किया है। वे यहाँ उस पुस्तक को लेकर आये थे। मैंने देखा है। उनसे बातें की, उनकी दम्भपूर्ण बातें मुझे अच्छी लगी। आपने कहा——सभी शब्दों का मैं ओड़िया अनुवाद कर सकता हूँ, और किया है। लेकिन इसको छापने वाला कोई नहीं है। उनका विचार

है कि जो यह कहते हैं कि अंग्रेजी शब्दों का ठीक शब्द-अर्थ प्रकाशित करने वाली भारतीय भाषाओं में ताकत नहीं है, लोग भाषा नहीं जानते हैं और न चिन्ता ही करते हैं। चिन्ता करने वाला कभी ऐसा कह ही नहीं सकता है ।

स्वाधीनता प्राप्त होने के प्रथम और स्वाधीनता मिलने के बाद से राष्ट्रीयता में जमीन आसमान का अन्तर हम देख रहे हैं। स्वाधीन भारत में, अंग्रेजों के जाने के वाद से कुछ लोग जो अंग्रेजी थोड़ी भी जानते हैं, वियोग का अनुभव करते हैं। इन लोगों ने अंग्रेजी के प्रभाव पर भाषा, वेश और खान-पान खूब जकड़ कर पकड़ा है । इसका प्रमाण राजधानी दिल्ली में रहकर वापस जाने वाले विद्वान साहेब ने यों दिया है--

"मैं यहाँ इतने दिन रहा। मुझे यह नहीं मालूम दिया कि मैं भारत में हूँ या विलायत में।" लोग सुनकर गौरव कर सकते हैं। लेकिन यह समझदारों के लिये चुल्लू भर पानी में डूब मरने की बात है। और खास कर स्वाधीन भारत के लिये जो अभी-अभी उसी की गुलामी से मुक्त हुआ है।

कितने आश्चर्य, दुख और लज्जा की बात है कि जो नेता राष्ट्रभाषा में स्वाधीन भारत की राजकार्य होने की घोषणा करते थे, वे भी अंग्रेजी के मोहक सौन्दर्य को छोड़ने के लिये तैयार नहीं। दुनियाँ को भूल से गये हैं।

आज का नारा है--भाषा लादी नहीं जा सकती। अगर यही है तो फिर स्कूल कालेजों में क्यों दण्ड-विधान है। रेल आदि में क्यों टिकट की मजबूरी है, शासन में फौजों में, पुलिस, हाकिम,

वकील आदि की क्या जरूरत है ? कोर्ट कचहरी है, कर-लगान आदि की व्यवस्था क्यों ? जिसके जी में आयेगा देगा—कानून क्यों लादा जाता है ?

बिना मजबूरी के, भय के तथा दबाव के कोई काम नहीं होता है। ख्याल यह रहे कि कोई आदमी गरीब नहीं रहेगा, बेकार नहीं रहेगा और जीवन-यापन के स्तर पर जमीन आसमान का अन्तर नहीं रहेगा। पैसा जमा करना एक अपराध होगा। जो देशी भाषा में लिखेंगे, सोचेंगे, नई बात देश को देंगे, सरकार उसका सम्मान करेगी। उसकी रोजी का पूर्ण ख्याल रखेगी। उसके बाल-बच्चों की शिक्षा की व्यवस्था सरकार अपने हाथ में लेगी। अगर यह विश्वास होता है कि खाना, कपड़ा सब कोई पायेंगे, अच्छे घर में रहने पायेंगे, तो फिर किसी प्रकार का विरोध नहीं होगा।

मेरा यह अनुभव है कि सारा झगड़ा जो दिखलाई पड़ता है, वह न तो प्रान्त-प्रेम का है, न भाषा का और न प्रान्तीय जन-सेवा की भावना का। केवल स्वार्थ ही सर्वत्र फैला है। अगर खाने, कपड़ों की समस्या हल हो जाय, नौकरी मिलने का विश्वास हो जाय तो फिर किसी प्रकार का विरोध नहीं होगा। राजाजी ने उसी स्वार्थ-भावना को जगाया है। अवश्य उनके अन्दर जाति-प्रेम नहीं है, बल्कि कुर्सी का मोह है जिसके लिये वे अपने को लायक नहीं साबित कर सके।

स्वाधीनता प्राप्त होने के साथ ही साथ स्वार्थ भी अधिक मात्रा में प्राप्त हुआ है। बिना लाभ के कोई बात नहीं करता।

८–९ साल का बालक प्रारम्भिक परीक्षा देने के लिये उत्साहित करने पर पूछते हैं, हिन्दी पढ़ने से क्या लाभ है? भला शिक्षक कौन-सा लाभ का चित्र दिखलाये। हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा है। उसको सीखने से नौकरी मिलेगी, अन्यथा नहीं—यह डर भी तो अब नहीं रहा। अंग्रेजी ने अपने सौन्दर्य से सभी को ऐसा बाँध रखा है कि राष्ट्रभाषा बिचारी दाँतों तले अंगुली दबाये खड़ी है। उसको चिन्ता है कि मेरी शक्ति से मेरे उत्साह भरे उन्माद से, लोग लाखों की संख्या में जेल गये। झण्डा-गीत गानेके लिये लाठियाँ सहीं, गोलियाँ खाईं और स्वाधीन हुये। आज लोग फिर कहते हैं, राष्ट्रभाषा में शक्ति नहीं, बल नहीं, योग्यता नहीं। आज राष्ट्रभाषा का अधिकार छीनकरके विदेशी भाषाको, जो कि गुलामी बुलाने और लाकर बिठाने में सहायक बनी है, मध्यस्थ बन रही है, उसी को फिर राष्ट्र की भाषा बनाने के, लिये लोग प्रोत्साहित करते हैं। लम्बे-लम्बे व्याख्यान देते हैं। लोग लज्जा छोड़ चले हैं।

ये बातें मेरे दिल और दिमाग को चंचल बना देती है। जिन पंडित जवाहरलाल जी नेहरू को मेरा हृदय आंतरिक निगाह से देखता, उन्हींके प्रति अब उदासीन सा है। उसका कारण है ? और प्रबल कारण है, वह यह कि अगर वे चाहें तो लोगों के दिल से विरोधी भाव दूर हो सकता है। आज उनकी बातों पर लोग चलते हैं, विश्वास करते हैं। फिर वे हिन्दी के मामले में क्यों इस प्रकार उदासीन बने हैं, पता नहीं चलता ? हालाँकि, रूस के मनोभाव से वे खूब परिचित हैं, जानते हैं कि संसार

की वैज्ञानिक भाषा अंग्रेजी का वे लोग कितना आदर करते हैं ? पड़ोसी फ्रांस कितना अंग्रेजी के पक्ष में है ? वहाँ जाने वाले लोग बतलाते हैं कि अगर फ्रांस की जनता से "वाटर" कहा जाय, तो वे मुख ताकते रह जायेंगे। पीने के लिये कभी पानी नहीं मिल सकेगा। ऐसी स्थिति तो यूरोप की है, और इस वैज्ञानिक अंग्रेजी भाषा की, लेकिन लोग ढोल पीटते हैं—अंग्रेजी विश्व की भाषा है।

जन्मभर के लिये एक अफसोस रह गया

अपनी शादी की चर्चा मैंने प्रथम ही की है। शादी के बाद शाम के समय भोज देने वाले आई० राममूर्ति जी की चर्चा मैंने की है। श्रीयुत राजकृष्ण बोष, भूतपूर्व प्रधान मन्त्री, कांग्रेस के सभापति विश्वनाथ दास, कांग्रेस के मन्त्री बनमाली पटनायक, पं० रामलिङ्गम, पं० बनमाली मिश्र की चर्चा की थी। कटक में स्वागत करनेवाली छात्र-छात्राएं तथा श्री गोपीनाथ जी साहू का भी नाम उल्लेख मैंने आनन्द के साथ किया है। खासकर इस स्वागत में पं० बनमाली मिश्र की पत्नी का स्वागत घर में माँ बहनों के समान था ।

परन्तु इतना होते हुए भी मेरे मन में हमेशा के लिये एक अफसोस रह गया है। वह है शादी का न्योता, गोपबाबू ने दिल्लगी में अनेक बार कहा कि मेरा शादी का निमन्त्रण अभी बाकी है ।

मैंने सबको बुलाया। परंतु आग्रही होते हुए भी श्रीयुक्त गोपबंधु चौधरीजीको बुला नहीं पाया। हालाँकि उन्होंने दिल्लगी में अनेक बार कहा भी कि हिन्दी पण्डित पर मेरा निमन्त्रण बाकी है। बुलानेमें बड़ी बात नहीं थी, लेकिन उनको सम्भालना मेरे बूते के बाहर था। वे हाथी थे। जैसे हाथी को पालना आसान नहीं, वैसे गोपबाबू को निमन्त्रण देना और सम्भालना भी आसान नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे कोई बड़ा

अनूठा पकवान खाते हों। लेकिन वे कभी नमक नहीं खाते तो कभी तेल की ही तरकारी खायेंगे, कभी केवल पखाल खायेंगे; बात यह कि वे विचित्र साधक थे। भोजन के समय उनका बिगड़ जाना महान विपदजनक काम है। मैं कई बार उनको भोजन करते देख चुका हूँ। एक घटनाका उल्लेख यहाँ करता हूँ।

वे बरी में रहते थे। मैं सदा की तरह उनके पास जाता। इस वार जब गया तो भोजन के समय २।। तोले कच्चा सरसों का तेल सबके सामने रखा गया। सभी अपनी दाल तरकारी भात में तेल डालकर खाने लगे। मेरे लिये यह हिमालय लाँघने से बढ़कर था। गान्धीजी का यह रोग था। गोपबाबू भी वर्धा से इसे साथ लाये। क्या मजाल कि कोई आश्रमवासी नकार जाय।

हाँ, तो मेरे सामने भी २।। तोले तेल रख दिया गया। मुझे मालूम हो गया था। मैं खाऊँगा नहीं यह भी ठीक था। मैं अलग बैठता तब तो आसान काम था। सभी आश्रमी एक साथ बैठते, 'सहना भवतु' बोलते और भोजन करते।

गोपबाबू से मैं भोजन करने काफी दूर जानबूझ कर बैठा था। भोजन शुरू हुआ। पास वाले को चुप रहने का इशारा किया था। मैं एक कौर भात खाता और तेल को देखता। मुझे ऐसा लगता मानो जानबूझ कर जहर खाने जाता होऊँ।

मुझमें एक बीमारी है कि मैं खाते समय बिना पानी के भोजन खा नहीं पाता। अतएव एक पानी का ग्लास मेरे सामने

था। मैंने आधा पानी पिया और कटोरी का सारा तेल उसमें डाल दिया। पास बैठा आश्रमी हँसने लगा। मैंने बाएं हाथ की कुहनी से चुप रहने का इशारा किया। मैं उद्धार पा गया। मेरा ख्याल है, यह बात आज तक किसी को भी नहीं मालूम है।

इन्हीं सब कारणों से मुझे उनसे डर था। वे क्षमा करने वाले नहीं हैं, अगर कोई उनकी इच्छा के विरुद्ध काम करे तो।

इस संसार से गमन करने के १५ दिन प्रथम वे राष्ट्रभाषा कार्यालय आये। एक कलेण्डर को देखा, बहुत पसन्द किया, साथ में ले लिया। कहा—यह कैलेण्डर बहुत अच्छा है। वे बोले—सोचा, तुमलोगों को देख आऊँ, बहुत दिनों पर आया हूँ। फिर न जाने कितने दिनों में लौटूँगा पता नहीं? कैसा काम चलता है? ऐसी हार्दिक मिलनवाणी मैंने जीवन में प्रथम सुनी थी। उनका किसी वस्तु के प्रति आकर्षण प्रथम देखा था। यह अन्तर्नाद की पुकार भी मुझे आज मालूम देती है। मैं आज सुनता हूँ, अनुभव करता हूँ, २६ वर्षों में १०–१० साल बीते हैं, लेकिन मिलने में ऐसी मिलनवाणी मैंने नहीं सुनी थी। उसमें कितनी आन्तरिकता थी, अपनापन था! मैं नहीं समझता था। "कितने दिन में लौटूँगा?", यह विरहपूर्ण पुकार आज दिल को मथ रही है। अब समझ रहा हूँ। मैंने उनसे कहा—सभा २५ वर्ष की होती है। उसकी रजत-जयन्ती पालन करने का आयोजन हो रहा है। ये विषय हैं। उन्होंने ३३ विषय देखे, जो उत्कल के साथ तादात्म्य सम्बन्ध रखने वाले थे। पढ करके आपने

कहा—इससे लोग कुछ भी नहीं पायेंगे। तुम उस समयके जीवन-चित्र लोगोंके सामने रखो, जबकि पाठक झोपड़ीमें रहता था, हाथ से रोटी पोता था। एक देवदारु की काठ की छोटी-सी आलमारी में १०-२० पुस्तकें रखे था। आजका यह विराट वैभव और उस समय की दीन-हीन क्षीण सभा का काम, कलेवर आदि आदि। तब न लोग कुछ जानेंगे, सीखेंगे और एक आदर्श सामने रख सकोगे। मैंने इस आज्ञा को शिरोधार्य किया। मन में मधुर कल्पना थी कि उत्सव के समय जब गोप बाबू यह चित्र हम लोगोंके सामने रखेंगे तो कितना सुन्दर, कितना महान् और कितना उत्तम आदर्शमय चित्र सबके सामने होगा!

तिरोधाम गमन के ४–५ दिन प्रथम मैं स्वामी जी के साथ थोरियासाही भूदान समिति रमादेवी जी को देखने गया था। उनको टाय-फाइड का ज्वर था। स्वामीजी ने पथ में कहा—गोप बाबू हैं, मैं कुछ फल लेता हूँ। पर डर लगता है, गोप बड़ा क्रोधी है। एक बार उनको ज्वर था, फल ले गया सो उठाकर बाहर फेंक दिया। बोला—गाँव के कितने लोगों को ज्वर में फल मिलते हैं? स्वामीजी जिस ढंग से यह बात कह रहे थे, सुनकर मुझे हँसी आ गई। कारण, उनके स्वभाव से मैं भी परिचित था। हम दोनों अन्दर गये। स्वामीजी फल रिक्शे में ही छोड़ गये थे। बोले—गोप जो है। अगर शान्त रहा तो पीछे ले जाना।

हम गये। गोप बाबू हँस कर बोले—स्वामीजी और उनका वाहन आया है। उस दिन की मिलनवार्ता में और

अन्य दिनों की अपेक्षा बातचीत में मुझे आज सारा का सारा व्यवहार दार्शनिक जान पड़ा। उसका कारण था, वि० दास का देहान्त हो गया था। स्वामीजी व्यथित थे। यह भी मालूम हुआ कि श्रीमती रमादेवी के ज्वरको अभी तक डाक्टर पहिचान भी नहीं पाये हैं। स्वामीजी ने फल दिया। उस समय का प्रवाह भी और था। चार दिन वाद लगभग रात ३ बजे फोन में श्री राजकृष्ण बाबू ने भरे गले से खबर दी––"गोपबाबू नहीं रहे" "गोप बाबू नहीं रहे"! दिमाग में केवल "गोपबाबू नहीं रहे" "गोपबाबू नहीं रहे" की ध्वनि निकलती थी। थोरियासाही जाने के लिये मेरे पैर नहीं उठते थे।

गोप बाबू उस दिन भुवनेश्वर गये थे। शाम को लौटे थे। ११ बजे रात शरीर में गरमी-सी मालूम दी। वह उनको असहनीय लगी। स्नान किया और खूब कसकर। बरामदे में बैठकर लोगों को पुकारा––आओ, आओ देखो, कैसा सुन्दर उजाला है! हे प्रभु! मुझे भी अपने पास बुला लो। और फिर गाया––हे राम, हे राम, राम-राम हरे, हरे। सब लोगों ने साथ दुहराया, गोपबाबू लुढ़क पड़े। सहारे के लिये बेटी के हाथ बढ़े, लेकिन वहाँ पृथ्वी, अप, तेज, मरुत और व्योमा थे। गोपबाबू का नामधारी अमर हंस नहीं था। उड़ चुका था। केवल नाम सबके पास छोड़ गये थे।

गोपबाबू दुर्बल नहीं थे। देखनेवालों ने २९ अप्रैल १९५८ के चार बजे तक वैसे ही देखा मानो सोये हैं। उनका तेज दीप्तिमान था; चिर समाधि में बैठे जो थे।

गोपबाबू का जन्म सन् १८६५ में वैशाख पूर्णिमा के दिन हुआ था। और वे प्रस्थान कर गये २९ अप्रैल १६५८ एकादशी के दिन।

उत्कल के जीवन में मैंने पहली बार छोटे अनुज श्री नवकृष्ण चौधरी, भयाऊ श्रीमती मालती चौधरी, पुत्र श्री मनमोहन चौधरी, पुत्री श्रीमती अन्नपूर्णा और पत्नी श्रीमती रमादेवी, इन कर्मयोगी, त्यागी, तपस्वी वीरों को इतना व्याकुल, कातर देखा था। नवबाबू की वह दहाड़ मार कर रुदन-नाद-खाना नहीं, पीना नहीं, जाड़ा नहीं, बरसात नहीं, गरमी नहीं, पागलों की तरह अनवरत चलता ही गया—मैं आज भी इन लोगों से न तो आँखे मिला सकता हूँ, न बातें ही कर सकता। देखते ही कलेजा गले की ओर दौड़ता है।

गोपबाबू का जीवन, जैसा कि मैंने देखा है, वे ऋषि-मुनियों में महान् थे। त्यागियों में हरिश्चन्द्र और दधीचि भी पीछे पड़ जाते हैं। कर्मयोगियों में, गीता के कर्मयोगी भक्त अर्जुन भी पिछड़ गये। उनकी जैसी मृत्यु देवपुरुषों को भी मुश्किल से प्राप्त होती है। और सबसे बड़ी और महान् निराडम्बर अत्युक्ति शून्य बात है, कि वे भारत में अनुपमेय हैं। उनका आदर्श भारत के ग्रामों के लिये मंगलमय व्यापार है। उन जैसा व्यक्ति, नेता, महात्मा, विद्वान, देशप्रेमी, सेवक, भारतमाता ने नहीं पैदा किया है। भारत में वे एक व्यक्ति थे। जिनको न तो नाम की भूख थी, न पद की। पद के नाम से वे ऐसा भागते थे जैसे लाल पट को देख कर भैंस। अन्यथा आज

वे भी भारत के शासकों में एक होते और भारत का दुर्भाग्य है कि उसे उन-सा शासक नहीं मिला। सुना गया था कि स्वाधीनता प्राप्त होते ही जब गोपबाबू कहीं भी किसी पद के लिये नहीं खड़े हुए तो किसी प्रांत का राज्यपाल होने के लिये सरदार पटेलजी ने लिखा था। आपने उत्तर में लिखा था—मेरा काम यहीं तक सीमित नहीं है और मेरा यह लक्ष्य भी नहीं था। अभी तो बहुत काम करना बाकी है।

भारत में कितने आदमी हैं, जिन्होंने कि इस प्रकार पद पर पदाघात किया है? कुछ बन जाने की कामना को, पुत्र-पुत्रियों की शिक्षा को बढ़ाने की कल्पना को त्याग किया हो। गोपबाबू ने अपने पुत्र-पुत्री को आजकल की शिक्षा से दूर रखा है। हालाँकि वे आजकल एम० ए० डिग्रीधारी उच्च शिक्षा प्राप्त उच्च नौकरी के लिये लालायित नव-निहालों से कहीं अधिक ज्ञान रखते हैं, देश-दुनियाँ को समझते हैं, समाज को जानते हैं, दुखियों के दिल को समझते हैं।

गोपबाबू दृढ़ प्रतिज्ञ महात्मा थे। जिस काम को त्याग देते, फिर कभी भी मुख फेर कर भी उधर नहीं देखते। छोड़ा सो छोड़ा, उसके लिये ममता उनके हृदय में नहीं थी। अहिंसा के वे परम भक्त, निष्ठावान् पुजारी थे। ब्रह्मचर्य पालन में भी भीष्म के समान व्रती थे।

खान-पान उनका अति सरल तथा सादा था। हमेशा उनका भोजन परीक्षामूलक होता था। भूदान-यात्रा में भोजन की मात्रा कम और एक समय होता था। देहातों में मिलने

वाला भोजन ही उनका एकमात्र प्रधान-पथ्य था। अधिकांश समय पखाल और साग खाकर रह जाते थे।

राष्ट्रभाषा शिक्षा के सम्बन्धों में वे और उनका परिवार पहले था। राष्ट्रभाषा की उपयोगिता तथा आवश्यकता राष्ट्रीय एकता का प्रतीक है; यह उनके मुख से बहुत पहले सुना था। इधर उनका मन खिन्न था। उसका कारण केवल हिन्दीभाषियों की जिद्द थी। उनका मत था कि किसी के ऊपर लादनेवाली भावना न रहे, प्रेमपूर्ण वाणी, चिन्ता हो तथा भाषा के शब्दों में अस्वाभाविकता नहीं आनी चाहिये, जैसा कि आजकल लोग जान बूझकर कर रहे हैं। इससे भाषा की गति रुकती है। भाषा जन-साधारण से पृथक होती जाती है। जिनके लिये राष्ट्रभाषा बनती है, अगर वे ही इसको न समझें तो राष्ट्र-भाषा की आवश्यकता ही क्या है?

इतना होते हुए भी वे राष्ट्रभाषा के परम उपदेशक थे, प्रचारक थे, और थे प्रेमी। उस पर उनका अधिकार था। वे उर्दू-फारसी भली भांति जानते थे। सबसे उत्तम उनका शिक्षालय जेल थी।

नेता लोग जिस काम को करते हैं, उत्तम समझते हैं, उनकी यादगार में वही होता है। लेकिन गोपबाबू की याद में लोग क्या यादगार रखेंगे? यह एक महान चिन्ता की बात है। इस सम्बन्ध में निम्न विचार हैं—

१—गोपबाबू की जीवनी प्रकाशित की जाय, जिसमें उनके बाल्यकाल की पूरी झांकी के साथ उनके कर्म-क्षेत्र का

विशुद्ध विवेचन हो और सचित्र हो। जहाँ तक सम्भव हो, फिल्म बना कर सर्वत्र प्रदर्शन किया जाय।

२—उनके जीवन से, कार्य से अनुप्राणित करने के लिये कुछ शिक्षण-केंद्र खोले जायं। उसमें उनका सम्पूर्ण आदर्श रखा जाय।

३—"गोपबन्धु-वाहिनी" बने, जो गाँव-गाँव घूम कर गोपबाबू के कर्म-लगन की कथा सुनाएं, जन-मंगल कार्य करें।

४—ब्रह्मचर्य पालन में उन-सा दृढ़ प्रतिज्ञ बनें।

५—बरी में उनके द्वारा चलाई सभी प्रवृत्तियों का प्रशिक्षण-केंद्र खोले जायें, जिससे लोग उच्च आदर्शवान आदमी बन कर निकलें। उनको स्वावलम्बी जीवन-यापन की सनद देकर निकाला जाय। नौकरी ही एकमात्र पेट भरने का धन्धा है, न माना जाय।

६—एक स्थायी कोष रखा जाय, जिससे वाहिनी के सभ्यों को जीवन निर्वाह के लिये मासिक भत्ते की व्यवस्था रहे।

७—"ग्राम-सेवक" पत्र उनकी सेवाओं का निर्देशक बन कर रहे।

८—प्रत्येक स्कूल-कालेजों तथा सभी प्रकार के जनपदों में बसने वाली संस्थाओं में उनका चित्र रहे।

९—उनकी जीवनी सभी पाठशालाओं में पढ़ना अनिवार्य हो।

१०—गोपबाबू के साथ सम्पर्क रखने वाले बन्धुओं से लेकर बुर्जुग तक उनके संस्मरण लिख कर अन्यथा कह कर सुनाएँ।

११—नाटक और प्रहसनों में उनका जीवन या कार्य प्रदर्शित किया जाय।

१२—इन सारे कामों के लिये ३०–४० लाख रुपये जमा किये जायें। इस कार्य में गरीब से गरीब और अमीर से अमीर व्यक्ति का दान हो।

१३—इस संघ के लोग किसी प्रकार की दलबन्दी में न पड़कर केवल जन-मंगल कार्य में ही अपने को सीमित रखें। इसके लिये प्रतिज्ञा-पत्र बनें, और भरे जायें।

यह एक यादगार उत्कलियों के सामने रहना चाहिये। उनको गर्व होना चाहिये कि उत्कल में एक अनुपम रत्न था जो खो गया है।

सरकारी नीति

हमारा तो विश्वास है कि अगर सरकार जरा भी हिन्दी को सिखाने की ओर प्रेम की निगाहों से देखे तो सारा विश्व और तेजी से हिन्दी सीख लेगा। कारण, कमसे कम पड़ोसी चीन, जापान, रूस आदि देश हिन्दी सीख रहे हैं। हिन्दी में अनुवादक हैं। चीन में भदन्त आनन्द कौशल्ययनजी का हिन्दी भाषण का अनुवाद चीनियोंने चीनी भाषा में किया है।

सरकारी नीति ढुलमुल होते हुए भी जनता में हिन्दी सीखने के प्रति अभिरुचि है। उत्कल के तमाम स्कूलों में कम-वेशी से हिन्दी पढ़ाई जाती है। अवश्य, अंग्रेजी शासकों के जमाने से चली आती फाइल की भाषा अभीतक नहीं गई है। कहा गया है कि नवें क्लास तक हिन्दी अनिवार्य रूप से पढ़ाई जावेगी, लेकिन परीक्षा नहीं होगी। फलम्वरूप लोग डर जाते हैं और हिन्दी सीखने में पीछे रह जाते हैं। ओड़िशा के सभी स्कूलों में हिन्दी पढ़ाई होती है। लोग अपनी इच्छा और शक्ति सामर्थ्य के बूते पर यह काम करते हैं। कालेजों में हिन्दी पढ़ाई जाती है। लेकिन वह भी दिल्लीकी ओर मुख करके देखते हैं तब पढ़ते हैं। लक्ष्य नौकरी का है। नौकरीको अगर देख लिया जाय तो फिर काम आसान हो जाता है। राष्ट्रभाषा प्रचार सभा अपने बल और बूते पर चलती है। अवश्य उसके पीछे सरकार का आर्थिक बल है। आजकल ३६ हजार रुपये की

वार्षिक सहायता सभा को मिलती है, इसके अलावा वर्धा राष्ट्रभाषा प्रचार समिति से १०–१५ हजार रुपये और भी मिलते हैं। प्रेस की आय भी सभा की है और दुकान तो सभा की है ही। आजकल सभा के अर्न्तगत ४० केंद्र और लगभग २०० स्थायी परीक्षा-केंद्र चलते हैं। १५ हजार परीक्षार्थी प्रति वर्ष राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा की परीक्षा में बैठते हैं।

इतना सारा काम जनता की सहायता, प्रेम और श्रद्धा से चलता है। सभा किसी प्रकार का प्रलोभन नहीं देती है। केवल पत्र-पुष्प भेंट किया करती है। जो प्रेम से लोग स्वीकार करते हैं। इसीका यह फल है कि सभा का काम दिन-ब-दिन बढ़ता जाता है। सभा की तरक्की को देखकर आनन्दित हो कर काका कालेलकर साहेब ने कहा था––

"मैंने पैरों के नीचे गंगोत्री के पास गंगा को बहते देखा था और ग्वालन्दों के पास सागर से होड़ करते पद्मा को भी देखा है। उसी प्रकार सभा का श्रीगणेश भी देखा है और आज इस का यह रूप देखा है। पाठकजी मुझे तुमसे कम खुशी नहीं है, अधिक है। कारण, तुम तो रोज देखते हो। मैं कभी-कभी वर्षों में एकबार देखता हूँ।"

स्वराज्य से आशायें

मेरे जीवन में अनेक दुख:दायी और अपमानजनक घटनाएं भी, स्वाधीन भारत के मंत्रियों के सामने घटी हैं। लेकिन, हमदर्दी भी पूर्ण मिली है। इसलिये मैं उनका उल्लेख नहीं करता। केवल सभा को सहायता देने वाले का ही नाम है। आज तक मैंने अपने लिये किसी भी मंत्री से कुछ नहीं कहा है। हालाँकि, राजनैतिक बंदियों के नाम मद्रास सरकार ने कितनी जमीन दी है। लेकिन उत्कल तो इस मामले में नीरव है सभी के लिये जमीन मिली है।

इतना ही नहीं बल्कि जो कांग्रेस के लिये सर्वहारा बने हैं, जिन्होंने सर्वस्व होमा है, जिन लोगों ने अपना त्याग किया है। उनके संबंध में भी विचार नहीं किया गया है, न किये जाने का प्रश्न ही सामने आया है। मैंने एक नेता से कहा था—श्री राधामोहन महापात्र ने इस स्वराज्य प्राप्ति के लिये बहुत मंहगी कीमत चुकाई है, और औकात से बाहर चुकाई। उनको कुछ काम दिया जा सकता है। वे श्रम करना चाहते हैं। उनकी हालत बहुत बुरी है, माँ मर गई, पत्नी मर गई, बड़ा लड़का पागल हो गया; सबसे छोटा मर गया है, और घर भी बिक गया है।

उत्तर में मुझसे कहा गया—तो क्या पाने की आशा से काम किया गया है? ऐसा था तो नहीं करना चाहिये था।

कितना कठोर और निर्मम उत्तर था। सुनकर मैं दंग रह गया। स्वराज्य का अर्थ मैंने ऐसा नहीं लगाया। मैंने राधाबाबू से आजतक नहीं कहा। वे सुनेंगे तो उनकी आत्मा दुखित हो जायेगी। राधाबाबू मेरे राष्ट्रभाषा के काम में आज भी सक्रिय सहायक हैं। उनके सहयोग से भवन के काम से मैं बहुत परिमाण में अपने को मुक्त पाता हूँ। आज उत्कल में भी जो विरोधी थे, और अंग्रेजोंके जमानेमें भी सरकार के प्रियपात्र थे, वे आज भी हैं। चाहे व्यापारी हों, चाहे कर्मचारी।

स्वराज्य मिलने के बाद भी हमारी पराधीनता की शृंखलाएं ज्यों की त्यों हैं। यहाँ मैं निज अनुभव की दो-तीन घटना बिना लिखे नहीं रह सकता।

स्वराज्य का प्रथम वार्षिकोत्सव था। पुलिस मैदान में नगर के लोग जमा थे। २–३ सौ कुर्सियाँ पड़ीं थी। जिनमें केवल कर्मचारी या उस समय की सूची में जिनका नाम था कुर्सियों में भी लिख कर लटका दिया गया था। लाट साहेब आये, महताब साहेब भी आये। पिटी पिटाई पुरानी लीक से लाट साहब ने सलामी ली और चलते बने। उनके जाते ही पाउडर और लिपिस्टिक के सहारे लादे सौन्दर्य के भार को सम्भाले कर्मचारियों की ललनाएँ मन्द मन्थर गति से चली गईं। रह गई दूर धूप में खड़ी हजारों की संख्या में जनता। जिनके बीच में मैंने देखा था श्री भागीरथी महापात्र (आज एम० पी०) श्री गदाधर दत्त (आज एम०एल०ए० तथा उ० प्र० काँग्रेस के मंत्री) श्री वीरेंद्र मित्र (भूतपूर्व काँग्रेस के सभापति, आज

एम० एल० ए०) जनता से कहा गया था कि महताब बाब आपको कुछ कहेंगे।

अब लोग घेरे को उठा जान मैदान में महताब बाबू के समीप आ गये थे। महताब बाबू ने जो कुछ कहा धूप में बैठे सब सुनते रहे।

मेरे मन ने कहा--यही नेताओं का साथ है? और रहेगा? कर्मचारी तो जो भी सरकार रहेगी इसी प्रकार चलेंगे।

दूसरी बात थी, सरदार पटेल की गृह मंत्री के रूप में कटक आगमन की। सभी कर्मचारी निमंत्रित किये गये थे। लेकिन, काँग्रेस के आदमी उसमें नहीं थे।

जो नेता जनता के अति समीप थे, आज स्वराज्य मिलते ही अति दूर हो गये। समीप रह गये फाइलों के भारवाहक वीरगण। इसमें मैं दोषी उनको नहीं मानता। दोषी तो नेतागण ही हैं। कारण, वे फाइलों में इतना रम गये हैं कि उनके सामने वे ही वे नजर आते हैं। जनता तो स्वार्थ सिद्धि के समय ही याद आती है। फिर वह इतनी उदार और प्रेमी है कि पिछले सारे मलाल को भूल जाती है। और आजतक जिस नेता के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करती आती है, देखने, सुनने और उनसे कुछ नयी प्रेरणा पाने की अभिलाषा से दौड़ जाती है। वह पुराने दर्दनाक कर्मों को भुला देती है।

आन्तरिक कल्पनायें

सभा की उन्नति को देखकर एक सज्जन ने कहा था—काँग्रेस के पास इतनी बड़ी ताकत है। लोक-सेवक मण्डल में लालाजी और गोपबन्धु दास का नाम है। इसी प्रकार हिन्द-सेवक समाज में गोपालकृष्ण गोखले का नाम है। लेकिन, सभा के पीछे किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है—केवल जनता का प्रेम है—बस,

सभा में मेरी बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ हैं। मैं अपनी बड़ाई नहीं करता। लेकिन, यह बात सत्य है कि सभा की उन्नति की चिन्ता छोड़कर मैं अपनी पुत्री और पत्नी की भी चिन्ता नहीं करता। पत्नी तो खुद पढ़ी-लिखी है, मेट्रिक ट्रेण्ड और साहित्य रत्न है। उसकी चिन्ता मुझे नहीं है, बल्कि वही मेरी चिन्ता करती है। सभा के काम में उसकी सहायता प्रसंशनीय है। अपनी बात तो उसने कभी भी मुझ से नहीं कही, जैसा कि औरतों का स्वभाव रहा करता है। अपना घर, अपनी गृहस्थी और अपनी जगह जमीन आदि। प्रेमचन्दजी का 'गबन' उपन्यास पढ़कर के दिल्लगी में कभी-कभी 'चन्द्रहार चाहिये' की चर्चा कर देती है—हम दोनों उस पुस्तक के पाठक हैं।

स्वराज्य मिलने के पश्चात् मुझे मंत्रियों के साथ का सुन्दर सबक मिला है। मेरी धारणा है कि अगर कुछ काम

कराना हो तो प्रथम लेखक-नवीस से मिला जाय। अगर वे ठीक रहें तो काम बना, अन्यथा बिगड़ा, और बिगड़ा सो बिगड़ा। बड़े-से-बड़े हाकिम भी उसे बना नहीं सकते। अगर बनायेंगे तो वही एकमात्र अधिकारी है।

एकबार मैंने एक उच्च स्तरीय अफसर की शिकायत संबंधित विभाग के मंत्री महोदय से की, तो आपने उत्तर दिया—अगर वे नहीं करते हैं, तो हम क्या कर सकते हैं?

अब सोचा जा सकता है कि फिर मंत्रीगणों की आवश्यकता कहाँ रह जाती है। अवश्य ऐसे मामलों में मैं सदा पं० लिंगराजजी मिश्र तथा श्री राधाकृष्ण विश्वास राय को अधिक याद रखता हूँ और इच्छा करें तो डा० हरेकृष्ण महताबजी को भी।

अनुताप का विषय

स्वराज्य मिलने के बाद, वे स्कूली शिक्षा के त्यागी व्यक्ति अनुताप करते हैं। लोग सोचते हैं कि हमने कितनी बड़ी गलती की है स्कूल कालेजों की शिक्षा को छोड़कर। जो लोग अपनी शिक्षा में लगे रहे, नेताओं की बातें नहीं सुनी, वही आज बड़े-बड़े पद पर आसीन हैं। स्कूल-कालेजों को छोड़कर आने के लिये कहने वाले नेता भी उन्हीं की बातें सुनते हैं। सार्वजनिक कार्य करने वालों पर विश्वास नहीं है। हम जैसे कितनों का विश्वास था, स्वराज्य मिलने के बाद भारत का सारा काम राष्ट्रभाषा में होगा। लेकिन, हुआ उसका उल्टा। लोग अंग्रेजी को राष्ट्रभाषा बनाने का खुला मत देने लगे हैं। जनता को भूल-से गये हैं। अंग्रेजी का मान स्वराज्य सरकार के सामने भी इज्जत का है। वे लोग ४० कोटि जनता का ख्याल नहीं करते। अंग्रेजों के शासन में जैसा जीवन यापन करते थे, स्वराज शासन में भी ठीक वैसा ही कर रहे हैं। राम-राज्य की चिन्ता करने वाले, स्वराज का शासन-कार्य राष्ट्रभाषा में होगा का स्वप्न देखने वाले चले गये।

आज हिन्दी को ऊहापोह का विषय बना दिया गया है। संविधान में स्वीकार हो जाने वाली भारत की राष्ट्रभाषा को आज भी बाजारू बनाया जा रहा है। अंग्रेजी आज भी स्वराज-शासकों के दिल और दिमाग में छाई हुई है। मेजों पर नंगा

नाचती है। उसके सौन्दर्य को देख कर लोग हिन्दी की ओर देखते ही नहीं। बल्कि, नालायक मानते हैं। जनता को धोखा देने के लिये कमीशन बैठाया गया, लाखों रुपये खर्च हुए, मत लिये गये। इसलिये कि स्वाधीन भारत की राष्ट्रभाषा कौन होगी? हिन्दी अगर होगी तो कब से? कितने दुर्भाग्य की बात है। स्वाधीन भारत आज अपनी राष्ट्रभाषा के लिये यह विचारे, मत ले, रंग रूप की चिन्ता करे कि राष्ट्रभाषा अंग्रेजी का स्थान हिन्दी तब तक न ले, जब तक लोग सीख न लें। सोचने की बात है--बुद्धि का तकाजा है ,अगर यही तर्क लोग करने लगें--भारत के प्रधान मंत्री, भारत के राष्ट्रपति शासन के लायक नहीं हैं। तब तक वे इस गद्दी पर नहीं बैठ सकते, जब तक कि शासक बनने की पदवी को प्राप्त न कर लें और वह पदवी इंगलैण्ड से लानी होगी। उनका न्याय प्रसिद्ध है, और राजाजी जैसे नेता लोग कहने में लगे हैं कि अंग्रेजी ने हमें जीवन दिया है, स्वाधीन बनना सिखाया है। वाहरे विचक्षण दुनियाँ! दुनियाँ भारतीयों की बुद्धि को कैसा पुरस्कृत करेगी?

हिन्दी न लादने का नारा

नेता लोग एक नारा बुलन्द करने में लगे हैं। हिन्दी किसी पर लादी नहीं जायेगी! ये लोग जनता को उदार बनाने में लगे हैं। अगर हिन्दी लादी नहीं जायेगी, तो फिर अंग्रेजी ही क्यों लादी जाती है? क्यों नहीं हिन्दी और अंग्रेजी को इच्छा के अधीन कर दिया जाता है? अंग्रेजी में काम करने के लिये जितना वेतन दिया जाता है, उतना ही हिन्दी राष्ट्रभाषा में काम करने वालों को क्यों नहीं दिया जाता है? और फिर डाकखाना, रेल आदि में टिकट लेना क्यों मजबूर किया जाता है। यह क्या गरीबों के सिर पर अर्थ का लादना नहीं हुआ? नेता लोग समझते हैं कि हिन्दी लादी नहीं जायेगी, का भाषण देकर बड़ी भारी उलझी हुई गुत्थी को सुलझा दिया है। परन्तु मुझे तो ऐसी बुद्धि पर तरस आता है। तर्क उठता है कि ये क्रांति का ढोल पीटने वाले नेता कितना कर्मभीरु और बुजदिल हो गये हैं। अपने कर्म पर, श्रम पर, साधना पर और उद्यम पर विश्वास ही नहीं है। उधर अंग्रेजी भाषा के व्यापारी लाखों रुपये खर्च करके अंग्रेजी को हमेशा के लिये कायम रखने के लिये उद्यम करते हैं—साम, दाम, दण्ड, और भेद से। और यहाँ हमारे नेता लोग अंग्रेजी का सम्वाद-पत्र लिये जनता के पास जाने में लज्जा नहीं करते।

मेरे दिमाग में यही ऊहापोह मचा रहता है कि क्या कारण

है कि लोग अंग्रेजी के पीछे इतना पड़े हैं। हम यहाँ देखते हैं कि स्कूलों में पाठ पढ़ने वाले बालक राष्ट्रभाषा के प्रति आग्रही रहते हैं, सीखते हैं। लेकिन कालेजमें जाते ही सागर की तरंगोंमें गोते लगाने लगते हैं। जो लोग राष्ट्रभाषा सीखना अपना कर्तव्य समझते थे वे भी छोड़ बैठे हैं। इससे पता लगता है कि भाषा का प्रभाव कितना महान है। अंग्रेजी ने जो मायाजाल फैलाया है उसको जल्दी समेटना वह चाहती ही नहीं। और चाहे भी क्यों, जब उसके आशिकों की संख्या में उत्तोरोत्तर वृद्धि होती जाती है। तब फिर समेटने का ख्याल मन में लाया ही क्यों जाय।

राष्ट्रभाषा किसी पर लादी नहीं जायेगी—यह कथन गलत है। कारण, लादने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसको तो लोगों ने लाखों की संख्या में सीखी है, सीखते हैं। यह तो स्वाधीनता का प्रतीक है। स्वराज्य-आन्दोलन में यहमारे साथ थी। स्वाधीन भारत की यह राष्ट्रभाषा होगी, की घोषणा हमने बहुत पहले से कर रखी है। हमारी यह कल्पना थी कि स्वाधीन भारत के शासन की भाषा हिन्दी होगी। इस लिये लोग उस पर आकर्षित हुए। अगर इसको सिर का भार मानते हैं, मुसीबत समझते हैं तो जनता पहले ही न फेंक देती। आज यह प्रश्न ही न उठता कि भाषा लादी नहीं जायेगी।

हमारा मत है, राष्ट्र की जनता के सामने राष्ट्रभाषा लादना चाहिये। कारण, यह स्वाधीन भारत का चिन्ह है। हम इसके द्वारा दुनिया को बतला सकेंगे कि हमने सही माने में स्वाधीनता प्राप्त की है। एक बड़ी लड़ाई में यह हिन्दी

समर-सेनानियों के नस-नस में स्फूर्ति भरी थी। अंग्रेजी हमारे मन में यह भाव कभी भी घुसने नहीं दिया कि हम वास्तव में स्वाधीन हैं। दूसरी बात यह है कि यह प्रजातन्त्र-राज्य भारतीय जनता का है, अनुभव नहीं कर सकेंगे। इस कथन को पक्का करने के लिये हम एक उदाहरण आगे दे चुके हैं।

पता लगाने पर मालूम हुआ कि राजाओं के राज्य में सारा काम ओड़िया भाषा में होता था। वकील, हाकिम अपना मत फैसला ओड़िया में लिखा करते हैं। उन लोगोंने कभी भी अनुभव नहीं किया कि फैसला ओड़िया में लिखा ही नहीं जा सकता। जैसा कि आजकल के वकील कहते हैं।

यहाँ के 'गेस्ट हाउस' का नाम था 'मित्र भवन'। सोचने की बात है कि उन लोगोंने कितना बढ़िया और आन्तरिकता का शब्द चुन रखा था! इस 'मित्र भवन' में कितना अपनापा छिपा बोलता है!

इसको अंग्रेजी पढ़े नहीं सुन सकते और न समझ ही सकते हैं।

ज्ञानका भण्डार अंग्रेजी

उक्त प्रश्न का उत्तर किसी के पास नहीं है। वैज्ञानिक अंग्रेजी को ज्ञान का भण्डार लिये बैठे रहें। राजाजी आई० ए० एस० ए० एस० की वकालत करके अंग्रेजी को बैठाए रहें। परंतु कुछ नौकरी भले ही पा जायें, लेकिन अंग्रेजी के सहारे हम कभी जनता के समीप नहीं जा सकते हैं। जो ऐसा मानते हैं वे न तो जनता को समझते हैं, न देश को ही। जनता के सामने उलटे शत्रुवत्-भाव लेकर जाने लायक बना देती है—यह अंग्रेजी।

मजे की वात तो यह है कि जिन-जिन राज्यों में हिन्दी चलती थी, प्रांतीय भाषायें चलती थीं, स्वराज्य मिलने तथा राज्यों का शासन खतम करने के वाद वहाँ अंग्रेजी भाषा घुस गई वहाँ अब जनता की भाषा नहीं प्रयोग की जाती है बल्कि, अफसरों की भाषा चलती है। फलस्वरूप आज भी लोग स्वराज्य के माने नहीं समझ पा रहे हैं। वे यही सोचते हैं कि पहले गोरा-शासन सिर पर था अब काला-शासन है—बस इतना ही फर्क है।

ऐसी मनोवृत्ति को राष्ट्रभाषा हिन्दी ही बदल सकती है। उसी में ऐसी ताकत है कि लोगों को अपना बना सके। वह अपनी संस्कृति को लेकर जनता के सामने जायेगी, लोग समझेंगे। यह हिन्दी हिन्दवासिनी है। अपनी है, हिन्द की अंग्रेजी तो विलायत की है। उनके उपकार की चिन्ता करने वाली है।

उससे भारत का कोई लाभ नहीं हो सकता।

कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि जैसी वकालत लोग अंग्रेजी की करते हैं, मैं भी करूँ। लेकिन, मेरे दिल से वह सम्मान नहीं निकलता। मेरा मत हमेशा रहा है कि जो यह कहते हैं कि अंग्रेजी के बिना काम नहीं चलेगा, उन्नति नहीं होगी वे अपने आपको धोखा देते हैं। उनकी या तो काम करने की विधि का विस्मरण हो चुका है, अथवा कार्य करने की इच्छा ही मर चुकी है। सोचते हैं—हमारी नैया तो किनारे आ लगने वाली है। थोड़ी देर के लिये हाय-हाय क्यों, शान्ति से जीवन बिता लें। किन्तु, उनके लिये यह शान्ति नहीं, अशान्ति का बाना धारण किये चली आ रही है। नाना प्रकार के विरोध-भाव जागृत होते हैं, यह राष्ट्रभाषा ऐसे मेरे सिर सवार है कि उसके विरुद्ध बोलने वाले पूज्यनीय विभूतियों के प्रति भी विरोध भाव विद्रोह कर देती हैं। जिनका मैं आजतक सम्मान करता था—राजाजी, मुंशीजी, काका साहब और सुनीत कुमार चटर्जी आजके प्रति भी हृदय कठोर से कठोर शब्द प्रयोग करने में नहीं झिझकता। मेरा मन कहता है ये कभी भी विद्वान् नहीं बन सकते।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि मैं हिन्दी का प्रचारक नहीं था, न समझता ही था। न मुझे यह आग्रह था राष्ट्रभाषा का। न समझता ही था। लेकिन, महात्मा गाँधीजी ने कहा—मैंने समझा। और इसी हिन्दी राष्ट्रभाषा ने मुझमें राष्ट्रीयता का बीज डाला। मेरा विश्वास है कि मुझ एक के

ही दिल में नहीं बल्कि, लाखों के दिलों में हिन्दी ने राष्ट्रीयता का बीज बोया है। लाखों को जेल जाने के लिये तैयार किया है। गाँधीजी की वाणी का भारत भर में प्रचार हिन्दी ने किया है। गान्धीजी को भारत का हृदय-सम्राट हिन्दी ने बनाया है। यही नहीं, जो भी थोड़ा हिन्दी का सहारा लिया है, वही भारत का बन गया है, भारतीयों का बन गया है।

इस प्रकार के विचार नित मन में उठते। अभी तक समझ नहीं सका कि भारत राष्ट्र की राष्ट्रभाषा अंग्रेजी क्यों होनी चाहिये? कारण, गाँधीजी ने सिखाया था कि राष्ट्रभाषा राष्ट्र की आत्मा होती है। राष्ट्र के जिन्दा होने का प्रमाण, राष्ट्रभाषा में सारा काम करना है। राष्ट्र के नामानुसार भी अंग्रेजी नहीं उतरती। वह कभी भी अपने को यह कहने में साहस नहीं करेगी कि लोग उसको हिन्दुस्तानी कहें। यह कलेवर कभी बदला नहीं जा सकता। यह तो सूरदास की काली-कम्बली है। उसमें कभी भी कोई रंग चढ़ ही नहीं सकता। अतएव अगर भारत में एकता लानी है तो हिन्दी का सहारा लेना होगा।

राष्ट्रभाषा के प्रचार में पानी फिरा

मैं यह सोचता था कि राष्ट्रभाषा का प्रचार किस प्रकार दिन-ब-दिन बढ़े। योजना बनाता, सरकार से मंजूर करवाता अथवा खुद करने की बात सोचता, लोगों की अभिरुचि राष्ट्रभाषा के प्रति बढ़ती पर थी। उत्कल सरकार भी सभा को ३ हजार से लेकर १५ हजार रुपये तक की सहायता देने लगी। केंद्र से भी २४ हजार मिलने लगे। वर्धा राष्ट्रभाषा प्रचार समिति भी १५ हजार रुपये दे रही है। इस प्रकार काम जोरों पर चल निकला। सरकारी सहायता के बावजूद भी सभा प्रकाशन की आय से, प्रेस की आय से सभा का वार्षिक आय-व्यय का अटकल बजट ६५ हजार रुपये का बनाने लगी। लगभग २०० के परीक्षा केंद्र खुल गये। सर्वत्र हिन्दी शिक्षा की माँग की आवाज आने लगी। हिन्दी सीखने के प्रति स्कूली बालक अति उत्साहित होने लगे। सरकारी कर्मचारी भी हिन्दी सीखना अनिवार्य समझने लगे। कम से कम उत्कल में यह भावना जोर पकड़ गई कि हिन्दी जल्दी ही सिर आने वाली है। फलस्वरूप अफसरों में भी हिन्दी के प्रति अनुराग हो गया। हमारे प्रचारक जहाँ-जहाँ थे, लोग हिन्दी सिखाने की माँग करने लगे। हिन्दी सीखने लगे। परन्तु गौहाटी-काँग्रेस अधिवेशन में पं० जवाहर लाल नेहरू के भाषण ने सारे किये पर पानी फेर दिया। उनका यह कहना कि हिन्दी को जल्दी जबरन किसी के सिर लादी नहीं

जायेगी—लोगों के उत्साह पर तुषारपात कर दिया। संख्या धीरे-धीरे कम होने लगी। और फिर एकदम कम हो गई। कुछ आदमियों ने साफ कहा—भारत के प्रधान मंत्री जी तो कहते हैं कि हिन्दी लादी नहीं जायेगी, फिर क्यों सिर पर मुसीबत लें।

पं० नेहरू कभी-कभी जनता के मनोभावों को बिना पढ़े ही बोल जाते हैं। उनको यह ख्याल नहीं रहता कि इसका असर देश की जनता पर क्या होगा। मैं सोचता हूँ, ऐसा कहने का दो ही कारण हो सकते हैं। प्रथम यह कि वे रंज में जो भी जी में आया, कह गये—दूसरे यह कि उनको अपनी वाणी की ताकत पर विश्वास नहीं है। जब लोग यह जानते हैं कि यहाँ घास है तो यहाँ आग कभी नहीं रखेंगे।

पंडित जी को हिन्दी के मामले में गान्धीजी का पथ पकड़ना चाहिये था। ऐसा कभी हुआ ही नहीं, और न कभी होगा कि बिना जोर-जबरदस्ती के कोई काम हो। बालक पढ़ने विद्यालय कभी भी नहीं जायेगा, अगर माता-पिता जोर नहीं दें, तो केवल हिन्दी ही नहीं, कोई भी काम लो। पंडितजी अपने दफ्तर में ही भला अपना कर देखें। बिना मजबूरी के कितने आदमी हाजिर होते हैं। राष्ट्र का जैसा आवश्यक कार्य अन्य है, उसी प्रकार हिन्दी प्रचार भी है, यह ख्याल रखना चाहिये। उनको तो बस एक बात ध्यान में रखनी चाहिये कि हिन्दी के कारण किसी पर अविचार न हो। कोई किसी पर ईर्षा न करे, जिसको कि राजाजी अमोध अस्त्र मानकर प्रयोग कर रहे हैं। आपको ख्याल रखना चाहिये कि समूचा भारत

हिन्दी के पक्ष में था, तभी वह राष्ट्रभाषा बनी है। आप तो सारा भारत एकबार नहीं कई बार भ्रमण कर चुके हैं। अंग्रेजी का सहारा कहाँ-कहाँ और कितना लिया है ? इसलिये राष्ट्रभाषा को राष्ट्र की एक आवश्यक अंग मान कर उसका प्रवेश अवश्य मान करना चाहिये। राष्ट्रभाषा के मामले में किसी की राजी बेराजी का ख्याल करना, भारत की हंसी कराना है। आप तो जानते हैं कि दुनियाँमें ऐसे भी अन्य देश हैं, जो अंग्रेजी को बहुत कम मान देते हैं। पड़ोसी फ्रांस को ही देखिये ।

रूस में अंग्रेजी का सम्मान नहीं, जो सिखाई जाती है। एक भाषा-ज्ञान के लिये, न कि इस ख्याल को सामने रख कर कि विना अंग्रेजी के हम वैज्ञानिक नहीं बन पायेंगे। हमारी उन्नति होगी ही नहीं। जैसा कि आज भारत के दुर्बुद्धिजीवी लोग मानते हैं ।

राष्ट्रभाषा रजत जयन्ती का श्री गणेश

१९५८ से जयन्ती की तैयारी में लगा था। मन नाना प्रकार के उधेड़बुन में था। हिन्दी के प्रति की जाने वाली अवहेलना मन में पीड़ा दे रही थी। फिर भी मन को शान्त करके डा० हरेकृष्ण महताब के सभापतित्व में एक राष्ट्रभाषा रजत-जयन्ती समिति बन गई। डाक्टर साहेब के प्रयत्न से उत्कल का परिचयात्मक ग्रंथ निकालने का आयोजन हो गया। अपने-अपने विषय के विशेषज्ञों से अनुरोध किया गया कि वे लेख दें।

इस काम में उत्साह था। मेरा विचार था कि इसमें उत्कल का पूर्णांग परिचय रहे, साथ ही साथ हिन्दी राष्ट्रभाषा का भी परिचय रहे। इसके अलावा जब जयन्ती का उत्सव हो तो भारत में स्वीकृत १४ राष्ट्र की भाषाओं पर भी साहित्यिक परिचयात्मक भाषण हो। और उसको फिर दूसरा भाग के नाम से प्रकाशित किया जाय। यह समन्वय राष्ट्रभाषा साहित्य भण्डार में अनुपम होगा। इसके लिये मैंने हिन्दी के विद्वानों से अनुरोध किया। सभी ने मेरी योजना को सर्वोत्तम मान अपना-अपना लेख देने के लिये वचन दिया।

इस जयन्ती के समय सबसे उत्तम काम किया है डाक्टर हरेकृष्ण महताबजी ने। आपने जिन-जिन विशेषज्ञों से लेख लिखने का अनुरोध किया था, सभी ने सहर्ष वचन दिया और

लेख लिख कर भेजा भी। जयन्ती की तैयारियाँ होने लगी। इस अवसर पर डाक्टर आर्तवल्लभ महान्ति का श्रम इस जयन्ती ग्रंथ के साथ अविस्मरणीय रहेगा। आपने सभी लेखों को देखा है, पढ़ा है और उनको उचित रूप दिया है। यह उत्कल के लिये गौरव की बात है और साथ ही साथ राष्ट्रभाषा साहित्य भण्डारके लिये एक अभूतपूर्व भाष्य संग्रहणीय बन गया है।

ग्रंथ की छपाई सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग में होने लगी। इस उद्यम में हमारे भागीदार रहे सम्मेलन मुद्राणालय के मैनेजर श्री सीताराम गुंठे। इसके साथ ही श्री वाचस्पति पाठक का परामर्श स्मरणीय है। इन्हीं के श्रम और सुझाव से सम्मेलन मुद्रणालय मिला और कापी पढ़ने तथा प्रूफ देखने के लिये मिले पं० श्री लली प्रसाद पाण्डेय।

उत्सव की प्रथम तारीख निश्चित थी दिसम्बर १९५८। बाद में राष्ट्रपति जी को लाने के लोभ में तारीख रखी गई मार्च। यह मन में हमेशा के लिये रह जाने वाली कसक है कि राष्ट्रपति श्री राजेंद्र प्रसादजीने स्वीकृति दी, लेकिन उनके निजी मंत्री के इंकार पर 'न' ही कायम रहा। वे नहीं आ सके। हालाँकि उस समय आप उत्कल आये थे, ७ दिन तक रहे भी। कटक भी आये। लेकिन, उत्कल प्रांतीय राष्ट्रभाषा प्रचार सभा उनको नहीं पा सकी।

यह एक महान परिताप की बात है कि स्वराज मिलने के बाद जनता के समीप का प्यारा व्यक्ति कितना दूर हो गया है। जिनको आज तक हम सब अपना समझते थे, आज वे

फाइलों के नियंत्रण में बन्दी है। उनका अपना निजत्व कुछ भी नहीं है। ग्रामोफोन रेकार्ड है।

तारीखों का बदलना अस्थिरता का चिन्ह है। जिन-जिन सज्जनों को मैंने निमंत्रण दिया था, मिला——उन्होंने साफ कहा——आप वार बार तारीखें वदलते हैं, हमारे पास क्या और काम नहीं है? खासकर के वाबूराम सक्सेना और श्री राम-धारी सिंह 'दिनकर' का वचन मूल्य रखता है। लेकिन, उनको हमारी परिस्थितियोंका क्या पता। उनके सामने ऐसी मजबूरियाँ आई हो तब न?

डा० हरेकृष्ण महताब जी ने अपनी राय दी कि पं० गोविंद वल्लभ पन्त, श्री मुरारजी देसाई, श्रीयुक्त कालूराम श्रीमाली को बुलाया जाय।

उनकी बातों का अनादर किसी ने नहीं किया। हालाँकि, हमारे सामने भारत के नामी विद्वान थे। और ऐसे साहित्यिक उत्सवों में उन्हीं का अधिकार भी है। लेकिन, चूँकि डाक्टर साहब कहते हैं और फिर पन्तजी भी कोई मामूली आदमी नहीं हैं। उनको पाना भी सभा के लिये परम सौभाग्य की बात है।

तैयारी फिर होने लगी। लोगों में उत्साह था कि पन्तजी जयन्ती-साहित्य सप्ताह में भाग लेंगे। डाक्टर साहब ने कहा भी कि उनसे बातें हो गई हैं, वे आने के लिये राजी हैं। लेकिन, उनके पास से कोई सम्वाद नहीं मिला था। इसलिये पत्र की प्रतीक्षा होने लगी। मुझे यह एक दिन की प्रतीक्षा एक वर्ष के समान लग रही थी।

मैं अधीर बन गया था। दिल्ली चला।

दिल्ली में मैं श्री मोहनलालजी भट्ट के साथ हिन्दी कवियों से मिला। जिनमें श्री मैथिलीशरण गुप्त, सियाराम-शरण गुप्त, दिनकरजी, नवीनजी, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी एवं जगदीशचन्द्र माथुर आदि का नाम उल्लेखनीय है। सभी ने हिन्दी राष्ट्रभाषा के प्रति अपनी पूर्ण सहानुभूति दिखलाई। मुझे तो ओड़िशा के एम० पी० श्री पूर्णचन्द भंजदेव से मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई थी। आप काँग्रेस विरोधी दल के हैं और संसदीय हिन्दी कमेटी में एक सभ्य हैं। उनके सुंदर सुलझे हुए विचार हैं। बातचीत के दौरान में आपने कहा—कुछ बंगाली सज्जन मुझसे कहते हैं कि मैं हिन्दी का विरोध करूँ। इन सत्तू खोर गाड़ीवानों की भाषा को हम लोग राष्ट्रभाषा नहीं मानेंगे। मैंने कहा—ठीक है, लेकिन राष्ट्रभाषा का जब विचार होगा, अंग्रेजी को हमारे सामने न लाना, जो १४ भाषाएँ विधान में स्थान प्राप्त राष्ट्र की राष्ट्रभाषा के रूप में मान्य हैं, उन्हीं में से किसी को राष्ट्रभाषा मानना होगा। जो सब प्रकार से लायक हो। काम के योग्य हों। अधिक से अधिक जिसको लोग बोलते हैं उसी को तो राष्ट्रभाषा बनाना है। मैं हिन्दी का समर्थन नहीं करूँगा। लेकिन तुम लोग मेरे सामने अंग्रेजी को लाओगे तो मैं हिन्दी का समर्थन करूँगा। कारण, मेरा ख्याल है कि हिन्दी को छोड़ कर कोई भाषा जिसमें अंग्रेजी भी शामिल है, भारत राष्ट्र की राष्ट्रभाषा कदापि बन नहीं सकती। आदि-आदि,

मैं साफ हूँ। लेकिन, आप के काँग्रेसियों के दिल और दिमाग को देखकर तरस आता है। ये लोग फिर कहते हैं—हमने स्वराज्य प्राप्त किया है। स्वराज्य प्राप्त नहीं किया है बल्कि, स्वराज्य उस बूढ़े गान्धी के कहने से मिल गया है। कोई स्वाधीनता प्रिय व्यक्ति कभी पराये राष्ट्र की भाषा को भला क्या अपने राष्ट्र के राष्ट्रभाषा बनने का मत दे सकता है। मुझे तो इन काँग्रेसियों से घृणा हो गई है।

मैं काँग्रेस भक्त हूँ। श्री मोहनलालजी भट्ट भी काँग्रेस और गाँधीजी के निष्ठावान भक्तों में से हैं। उन्होंने गान्धीजी के कथन पर एम० बी० बी० एस० आखिरी परीक्षा को लात मारा था जो कि कुछ ही दिनों में खतम होने वाली थी। उक्त भंजदेवजी के मत को सुनकर भी वे नाराज नहीं हुए।

श्री भट्ट जी मुझे लेकर कई जगह गये। रजत-जयन्ती की चर्चा की। मुझे लगा कि उन जैसा शान्त, शिष्ट, विचारवान व्यक्ति की इस राष्ट्रभाषा-जैसे पवित्र अनुष्ठान के लिये परमा-आवश्यकता थी, जो पूर्ण हुई। वे प्रयाग गये। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के आदाता श्री जगदीश स्वरूपजीसे मिले। रजत-जयंती के लिये रुपये माँगे और उस उत्सव के समय कटक जाने के लिये आमंत्रित भी किया। जहाँ-जहाँ वे जाते, यही कहते, कटक में राष्ट्रभाषा की रजत-जयन्ती हो रही है। उस उत्सव के समय एक उत्कल का पूर्णांग परिचयात्मक ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है। वे ६० वर्ष के हैं। लेकिन, प्रेमचन्दजी के अनुसार साठों पर पाठा होते हैं। वास्तवमें भट्ट जी काम करनेमें युवकों में युवक से हैं।

राष्ट्रभाषा और पण्डित नेहरू

पण्डित जवाहरलालजी नेहरू भारत की बहु-मुखी उन्नति के लिये एकमात्र विशाल प्रवल कड़ी हैं। उनके मुख से निकले प्रत्येक शब्दों का वजन विश्व में तौला जाता है। उसकी ध्वनि की गम्भीरता तथा गहराई नापी जाती है, लम्बाई चौड़ाई नापी जाती है। भारत का परम सौभाग्य है कि जो अन्धकार गान्धीजी के बाद के भविष्य को ग्रास करने के लिये मुख बाये तैयार सामने खड़ा था, उसे नेहरू जी ने दूर कर दिया है। दुनियाँ में चली आती दो भयानक शक्ति के सामने खड़े होकर इशारा किया, चिल्ला-चिल्ला कर कहा—विश्व की जनता को देखो। उनका जीवन तुम्हारे हाथ में है, उनको प्रथम बचाओ, अभय दान दो। विश्व भर में भ्रातृ-प्रेम का भाव फैलाओ। इस नारे की ध्वनि ने वर्फ का काम किया। धधकते बम के लाल गोले काले पड़ गये। रूस और अमेरिका अब सोचने लगे कि अगर हम अपनी ताकत विश्व के जन-मंगल के लिये विनिमय करेंगे तो वास्तव में शक्तिशाली का सबूत पेश कर सकेंगे।

यह कितनी बड़ी देन जवाहरलाल जी की है। कितना काम उन्होंने दुनियाँ के सामने किया है, कितना बड़ा विशाल भारत का हृदय दुनियाँ के सामने खोलकर दिखलाया है। लेकिन, आज हम उनकी समालोचना करेंगे। करते हैं, जो करते न थे। उसका कारण है। बिना कारण के उनकी समा-

लोचना नहीं की जा सकती।

आज दुनियाँ के सामने आपने जो विश्वकी विराट विचार रूप रखा है, उसके पीछे किसके भाव हैं ? इंगलिस्तान के, न हिन्दुस्तान के? अवश्य वे जन्म से लेकर अंग्रेजी उनके मुख से मुखरित होती आती है। फिर भी उनके रक्त में, हाड़माँस में, दिल और दिमाग में भारतीयता की अणुशक्ति भरी है। और वह आई कहाँ से? माता स्वरूपरानी के पय से। भाषा का ज्ञान तो मानव के ऊपर खर-भार-वाहक के समान है, जो आज, नेहरू जी कहते हैं वह अंग्रेजी का ज्ञान प्रभाव नहीं है, वह है केवल माता स्वरूप रानी के पय का। जिन पर चली आती गंगा के निर्मल जल धारा के समान भारतीय संस्कृति की रमणीयता है, रग रग में जमा उसका रस है। जिससे गढ़ा गया रक्त, हाड़-माँस है। ऐसी दशा में नेहरूजी उस अपूर्व पुरानी संस्कृति से मानव के प्रति मानवता प्रेम की ताकत, मनुष्यत्व के अन्दर की पौरुषत्व की शक्ति से लाभ तो उठाते हैं, लेकिन भारतीयों के दिल और दिमाग को ओत-प्रोत करने वाली जन-जन की भाषा को अभी तक नहीं अपना सके हैं। मेरा दृढ़ मत है और विश्वास है कि अगर नेहरूजी भी गान्धीजी के समान ही भारतीय राष्ट्र की भाषा को अपना पाते तो यह नारा, जो विरोध का नारा है, कहा जाता है, विरोध का न हो, समर्थन का होता। राष्ट्रभाषा को राष्ट्र का पद न देने में राजाजी जितने दोषी हैं, अवश्य नेहरूजी उससे बहुत कम दोषी हैं। लेकिन दोषी हैं। निर्दोष वे नहीं बन पाते हैं।

यह काम उनके लिये बड़ा ही गौण है। वे अपने को संसार की समस्याओं में इतना जोड़ रखा है कि भारतवर्ष की सारी समस्याओं के साथ एक भाषा की समस्या भी है और यह समस्या अत्यन्ताभावपूर्ण वे नहीं मानते। उसमें भाव हैं, और भारतवर्षको एकता के सूत्रमें जोड़नेवाली एक यही भाषा ही शक्तिशाली है, सामर्थ्यवान है, इसको उपलब्ध करना अत्यावश्यक है। और आज नहीं तो कल, परसों, वर्ष-दो-वर्ष बाद ही, सही उपलब्ध करने के लिये बाध्य होना पड़ेगा।

पण्डित जी के ज्ञान के सामने सारा विश्व एक गेंद के समान है। कहाँ क्या होता है, वे जानते हैं। कौन देश अपनी उन्नति, अपनी भाषा के द्वारा कितनी की है, यह भी छिपा नहीं है। फ़ांसमें अंग्रेजी का क्या प्रभाव है, यह उनको कहना नहीं पड़ेगा। रूस, चीन और जापान में अंग्रेजी की क्या स्थिति रखती है, यह भी जानते हैं। लेकिन भारतवर्षमें वे क्यों अंग्रेजी को आलिंगन करा रहे हैं। यह बात सभी को आश्चर्य में डाल देती है। और नाना तर्क वितर्क और कुतर्क करने के लिये जन-मन की ढ्ढी को नाचने कूदने के लिये मजबूर करती है। समालोचना करने के लिये उकसाती है।

शासन की भाषा के लिये कुछ शिक्षा कायम है

भारत एक स्वाधीन राष्ट्र है। वह अपन सारे विचार सभी के समक्ष रखने में समर्थ है। यहाँ की गणतंत्र प्रणाली भी विचित्र है। स्वाधीन भारत क्या चाहता है, और नेताओं का व्यक्ति विशेष स्वार्थरत मन क्या चाहता है, यह विचारणीय वस्तु है।

स्वाधीन भारत के प्रथम राष्ट्रपति और अब शासन के विरोधी राजाजी जिनके अन्दर झलक रही है ईर्ष्या-द्वेष की कठिन ज्वाला और उनके अन्दर ज्वाला को फूँक कर धधकाने वाला है एक कोने में छिपा स्वार्थ। वह स्वार्थ अर्थ का है, पदका है, या नामका है, वे ही जानें। परन्तु उनके अन्दर स्वार्थ है। इस पर शक अनेकों को नहीं है। लेकिन इस स्वार्थ से पण्डित नेहरू जी तो बरी हैं। मुझे लगता है उनको न तो अर्थ की चाह है, न नाम और पद की। तो फिर राष्ट्रभाषा के प्रति वे उदासीन क्यों हैं? इस पर उनके अपने बौद्धिक विचार हैं। वे प्रथम दुनियाँ को देखते हैं, दूसरें, अंग्रेजी ज्ञाताओं के ज्ञान के वे अपने को कायल बना देते हैं। उनका मत प्रबल मानते हैं। तीसरे छिपे विरोध को देखते हैं। उनको अपने पर विश्वास नहीं है। वे अपने को इनका सामना करने में असक्त मानते हैं। हालाँकि, यह डर उनके सामने जू-जू-सा है। अवश्य यह काम अगर अंग्रेजों के जाने के साथ-साथ कर डाला जाता तो

आज उक्त बाधाओं का सामना करने का सवाल ही न उठता।

एक बार ऐसे ही प्रश्नों का उत्तर देते हुए श्री मोरारजी देशाई ने कहीं कहा था—१५ साल का समय देना राष्ट्रभाषा की तैयारी के लिये भूल हो गई है। अंग्रेजी प्रथम जाती, बाद में हम विचार करते कि राष्ट्र का काम कैसे और किस प्रकार से किया जा सकता है। उसमें की क्या-क्या कमियाँ, कठिनाइयाँ और गतिहीनता है, और कैसे दूर की जा सकती है। शासन का काम केवल पण्डितों से, विद्वानों से ही नहीं चला करता है। उसके लिये कम पढ़े लिखे ज्यादे लोग और लायक निकलते हैं।

मेरा विचार है कि राष्ट्र के कार्यालय के लिये कम से कम २५ और ज्यादा से ज्यादा ५० क्रियाओं व्यवहार ज्ञान यथेष्ट है। और यह ४ मास बहुत ज्यादा हैं। २ मास रख लीजिये हाथ में। इस प्रकार ६ मास में सुन्दर कार्यालयी भाषा सिखाई जा सकती है। दफ्तर के लिये विलायत से लौटे आई० सी० एस० या आई० ए० एस० कुछ भी काम नहीं कर सकते। अगर नीचे के कर्मचारी सहयोग न कर सकें। उन्हीं की निष्ठा से ही काम होगा।

जहाँ यह भावना हो कि मन्त्री वृन्द या ऊँचे से ऊँचा अफसर हाकिम हमको नौकरी से निकाल नहीं सकता है। वहाँ डरसे काम में लगन दिखाना बहुत दूर की बात है। फल-स्वरूप वे अपनी एक जाति बना कर शासन करते हैं। मन्त्री-वृन्द भी उनकी राय पर ही चलते हैं। केंद्र भी शायद इस बीमारी

से बरी नहीं है ।

हिन्दी राष्ट्रभाषा हो कि नहीं। इस प्रश्न का हल भी प्रधान मन्त्री जी ने उन्हीं पर छोड़ दिया है। उसी का नतीजा है कि अंग्रेजी अभी बनी है, हमेशा बनी रहेगी। इसका नारा बुलन्द किया जाता है, और निल्लर्ज रूप से किया जाता है। हम सभी सुनते हैं यह भारत देश में ही सम्भव पर हो रहा है। अन्य स्वाधीनता प्राप्त देशका जन समुदाय कदापि इसको बरदास्त नहीं करेंगे। यहाँ तो विचार होता है और खुलेआम भारत की संविधान सभा में व्याख्यान द्वारा घोषणा की जाती है कि भारत राष्ट्र की राष्ट्रभाषा अंग्रेजी है। अत: अंग्रेजी बोलो। सोचने, विचारने और कल्पना करने की बात है कि अगर ऐसे ही भावाभिव्यक्ति करने वाले आदमी रूस या चीन में होते तो क्या होता? इन सब कामों को प्रोत्साहन मिलता है कहाँ से? साहस मिलता है कहाँ से? केवल नेहरूजी की दो मत व्यक्त वाक्यों से, और आर्थिक प्रोत्साहन मिलता है काम करने के लिये अंग्रेजी के व्यापारियों से, अंग्रेजों से।

हमारा तो नेहरू जी से नम्र निवेदन है कि अगर वह महात्मा गान्धी जी के कथन का मूल्य मानते हैं तो वे यह भी मानें कि अगर अंग्रेजी की गुलामी सिर पर बनी रही तो भारत पूर्ण स्वाधीन है, कभी नहीं कहा जा सकता है। और वे कहें कि भारत की एकता राष्ट्र की एक भाषा से हो सकती है। और वह भाषा कोई भारतीय होगी। जिसे कि सोच विचार के बाद

गान्धीजीने राष्ट्रभाषा माना है। सभी न उसे स्वीकार किया है। उसके प्रचारके लिये लाखों रुपये व्यय किये हैं। आज भी लाखों व्यक्ति उसी काम में लगे हैं। उसी को एकमात्र राष्ट्र की सर्वोत्तम सेवा समझ कर काम करते हैं।

यहाँ अब यह भी विचार करना सामयिक है कि काम अगर किया जाय तो किस प्रकार से ? स्वराज्य मिलने के बाद से काम करने का नारा ठीक बुलन्द की जाती है। कहा जाता है, अगर अंग्रेजी हटा दी गई , हिन्दी में काम किया जाने लगा तो काम कैसे चलेगा ? इसका प्रथम उत्तर तो यह है कि अंग्रेज के जाने के प्रथम यह कहते थे कि अगर हम भारत को छोड़ कर चले जायें तो ये भारतीय काम कैसे चला सकेंगे ? आपस में लड़ मरेंगे। हम तो उन्हीं को योग्य लायक कार्य कुशल बनाने के लिये हैं। लेकिन वे गये काम कैसे चलता है ?

आदमी की लगन

काम करती है आदमी की लगन, स्पृहा, कामना और करता है ज्ञान पाण्डित्य। भाषा तो गौण है। काम अगर करना है तो पण्डित जी का यह कथन बहुत है, यह काम हो और यह न हो। शासनका १२ आने काम 'हाँ' और 'न' से होगा। लेकिन यहाँ एक कहानी सुना दूँ। भारत भ्रमणके लिये मार्शल बुल्गानिन और ख्रुश्चेव आये थे। प्रधान मन्त्री जी ने आदेश दिया—इस मार्ग से रूस के जननायक जायेंगे। वे लोग अंग्रेजी को देखकर बिचकते हैं। इस लिये जितने घरों, दुकानों तथा पथों में सूचनाएँ, साइनबोर्ड अंग्रेजीमें हैं, हटा दिये जाँय। यह आदेश एक अंग्रेजी भक्त आई० ए० एस० के ऊपर था। उसने आदेश पालन किया लेकिन भोज का निमन्त्रण पत्र अंग्रेजी में छपा कर बाँटा गया। पण्डित जी ने जब पूछा—यह क्या किया, मैंने तो मना किया था कि अंग्रेजी में कोई काम न हो। तो उनको उत्तर मिला—आपने तो साइनबोर्ड उठवाने के लिये कहा था, सो मैंने कर दिया। कैसा अंग्रेजी ज्ञान का चुस्त उत्तर था। काम नहीं करना है, उसमें एक प्रकार की बाधा और जटिलता ला देना है, तो दूसरी बात है। लेकिन, अगर पण्डित जी किसी हिन्दी जाननें वाले से कहते तो शायद वह अंग्रेजी को कहीं भी घुसने न देता। उनका उचित आन्तरिकला के साथ आदेश पालन किया होता।

क्रांतिकी भावनाएं मिट गईं

मुझे लगता है और अगर मैं कर्मचारियों के सामने की फाइलों के आदर्श को सामने रखकर कहूँ तो इस शासन का काम १४ आने हिन्दी में किये जा सकते हैं। और दो आने अंग्रेजी में फिलहाल इसका फल होता यह कि प्रांतों का काम प्रादेशिक भाषाओं में भी होने लगता और हिंदी के शब्द भण्डार में नये नये शब्द आने लगते। शब्द कैसे आते हैं देखिये; मैं सोभियत भूमि पढ़ रहा था, उसमें रूस के बच्चों ने जो पत्र पण्डित नेहरू जी के जन्मोत्सव के बारे में लिखा था उसमें एक शब्द आया भ्रमणार्थियों के मन्तव्य पुस्तक के लिये 'परिदर्शक पंजिका'। भारतीय विद्वान का शब्द 'मंतव्य पुस्तक' देखिये और रूस का परिदर्शक पंजिका देखिये। कौन कर्णमधुर है? लेकिन इस पर ध्यान नहीं दिया गया कि हिन्दी में काम करें। ४० कोटि जनता की इच्छा उनकी सुविधा पर ध्यान नहीं दिया गया। केवल अंग्रेजी पढ़े लिखे कुछ लाख पर सारी कामना, सारी स्वाधीनता न्योछावर कर दी गई। जनमत को दाब दिया गया और इसका दोष मैं पण्डित जी को दूँगा। कारण, वे जनमत के हैं जन का मंगल देखना उनका प्रथम फर्ज हो जाता है। वे उनकी शक्ति को अपनी ताकत मानते हैं। लेकिन इस पर उन्होंने जनता की भाषा का ख्याल नहीं किया। बल्कि, कुछ अंग्रेजी ज्ञाताओं की नाराजगी पर जन मतकी इच्छा को, ताकत

को, और प्रेम को कुरबान कर दिया है। फिर भी जनता उनको अपना ही मानती है। छोड़ना नहीं चाहती। यही अगर अन्य देश होता तो लोग उठाकर फेंक देते। जिसका इतिहास पण्डित जी भली भांति जानते हैं।

मैं इस प्रकार के नाना विचारों में गोते लगाता। मैं मनही मन मत व्यक्त करता। कारण, मैंने स्वाधीनता प्राप्ति की कीमत चुकाई है। भले ही वह कीमत सेतुबाँध में गिलहरी जैसी ही क्यों न हो। यह अपनी अपनी शक्ति की बात है। लेकिन हम पीछे तो नहीं रहे। हमेशा नारा लगाते आये महात्मा गान्धी की जय, जवाहरलाल नेहरू की जय।

मैं अब जब अंग्रेजी और राष्ट्रभाषाके स्थान के तथा प्रेम के बारेमें सोचता हूँ तो मुझे लगता है लोगों के दिल से तथा खासकर नेताओंमें जो क्रांतिकारी भावनाएं उनके दिलों में थीं वे सब फाइलों में बाँध दी गई हैं। मुझे रोष होता है। देशकी स्वाधीनता के लिये बालक और युवाकाल के उपार्जन की जाने वाली शिक्षा जो आज सबोंके समान ऊंचे स्तर पर ले जा सकती थी गान्धी, जवाहरलाल के कथन पर मैंने भी कुरबान की है। इस प्रकार लाखों ने भी की है। परन्तु जवाहरलालजी ने आज उनकी भाषा को ही भुला दिया है। जिस भाषा के सहारे, देश में एकता आने के लिये आज तक माध्यम मानते आये हैं उसे फाइलों के योग्य नहीं मानते। उसमें काम करने का प्रोत्साहन नहीं देते। वे उल्टे धैर्य रखने के लिये कहते हैं, जो हिम्मत परस्ती का एक अंग है कर्म के लिये।

मैं आज अपनी अन्तरात्मा से कहता हूँ, नेहरूजी ने दो बड़ी भूल की है। प्रथम भूल यह है कि शासन चालू होते ही प्रथम आम चुनाव कराया, दूसरी भूल यह है कि अंग्रेजी को अभी तक स्वधीन भारत राष्ट्र के पद पर आसीन किये हैं। १५ साल तक प्रांतों के प्रतिनिधि लेकर सारे उन्नतिमूलक काम करते जाते। किसीकी मत लेनेकी जरूरत नहीं मानते। इससे जो दिमागी अशान्ति उनके सामने है नहीं होती। वे शान्ति से जीवन-यापन करते। १५ साल तक अयूब खाँ का शासन चलता आदमी अपना देश अपनी राष्ट्रभाषा और अपनी राष्ट्र मानना सीख जाते। बाद में यह चालू शासन प्रणाली सबके सामने रखते।

एक सर्वोत्तम काम

१९५९ मार्च, मास से सभा का २५वाँ वर्ष पूर्ण होता है। इस अवसर पर एक रजत-जयन्ती ग्रंथ प्रकाशित करने का मेरे मन में बहुत दिनों से कल्पना थी। अन्तर की कल्पनाएं इस काम के प्रति इतनी प्रबल थी, इतनी आग्रही थी कि मैं उनका चित्र नहीं आँक सकता। केवल इतना ही मुख्य मन्त्रीजी डा० श्री हरेकृष्ण महताब से कहा कि रजत-जयन्ती ग्रंथ ऐसा होना चाहिये जिससे लोग कहें--यह सर्वोत्तम काम हुआ है। और इस ग्रंथ के मुख्य सम्पादक आप ही रहेंगे। मेरी इच्छा है कि यह काम ऐसे साडम्बर हो कि जैसा आगे क्या कभी हुआ न हो।

श्री महताब बाबू मुस्कराये। उनका यह स्वभाव है कि अगर कोई सर्वोत्तम काम करने जाता है तो विरोध कभी नहीं करते। उल्टे सहायता देते हैं। आपने कहा--अच्छा तो एक सभा मेरे नाम से बुलवाओ। उस मीटिंग में जो जो विषय के विशेषज्ञ हैं उनको लेख लिखने का भार दे दिया जायेगा।

मैंने सर्वप्रथम निवेदन किया कि आप को भारत में सभी जानते हैं। जो जो कमियाँ तथा अभाव रहेगा प्रथम आपका ही नाम लोग लेंगे इसलिये जितना भी हो काम सर्वोत्तम होगा। इस प्रकार का उद्यम भारत में प्रथम है।

नियत तिथि को सभा हुई। सौभाग्य की बात हुई कि

अच्छी संख्या में पण्डित आये। जो जो विषय निश्चय था योग्यता अनुसार बाँट दिया गया। उनको पढ़ने का भार डा० श्री आर्त्त-वल्लभ महान्तिजी को दिया गया। "परन्तु प्रथम सारे लेख मैं भी देखूँगा" डा० महताब जी ने कहा।

उस दिन प्रधान सम्पादक डा० हरेकृष्ण महताब बने और डा० आर्त्तवल्लभ महान्ति और मैं सम्पादक बना। काम का श्रीगणेश हो गया। इसी सभा के ग्रंथ की छपाई में ४२ हजार रुपये खर्च का अनुमान पत्र बना और २३ हजार उत्सव के आयोजन में इस प्रकार ६५ हजार रुपये का अनुमानिक आय-व्यय बना।

इस योजना को जो भी सुनता स्वागत करता। खुशी के साथ लेख लिखने सम्मत्ति देना केवल एक विद्वान और श्री संपन्न मूँजीने कहा—अगर मुझे प्रत्येक पृष्ठके लिये १० रु० मिलें तो मैं रंगमंच का इतिहास लिखूँगा। मैंने यह घटना डा० महताब बाबू को कह सुनाई। उन्होंने कहा उनको लिख दो—लेख लिखकर दो, अगर लेख पसन्द आयेगा तो रुपये दिये जायेंगे। कैसा आदमी है? धन सम्पत्ति है फिर भी लोभ नहीं गया। लेख लिखने वाले बहुत हैं। श्री कृष्णकुमार बसु को लिखा जाय।

लेख लिखे जाने लगे। डा० महताब बाबू समय समय पर आते और सारे लेखों को पढ़ते। उनका यह श्रम लेख संग्रह के लिये बहुत श्रम साध्य और अतुलनीय दान है। कई विद्वानों के लेखों को वापस करके फिर लिखने को कहा गया था।

सभी लेख मौलिक थे और उड़िया में थे।

इतना बड़ा विशाल काम हमने हाथ में लिया है। उत्कल के विद्वानों की खुशी के साथ अपनी सम्मति देते। यथा शक्ति सहायता देते। इस योजना के लिये जरूरी था अर्थदान, श्रमदान और बुद्धिदान। बुद्धिदान में श्री गुरुचरण महान्ति का अभिमत प्रसंशनीय रहा है। और इसी प्रकार ठीक उलटा मत मिला था तत्कालीन उत्कल शिक्षा मंत्री तथा डी० पी० आई का। उनके सामने यह काम अति मामूली था। व्यर्थ में अर्थ व्यय की योजना है; ऐसा मत प्रकाश में व्यक्त भी किया गया था। मैं सोचता हूँ, उनका ख्याल न था इस प्रकार आयोजन का।

लेखों का हिन्दी अनुवाद होने लगा। सर्वप्रथम अनुवाद का काम मैंने विनीता पाठक पर डाला और उन्होंने उसे आनन्द के साथ स्वीकार किया भी।

अर्थ की चिन्ता थी। मेरा ख्याल था कि उत्कल से लाख-लाख रुपये कमाने वाले व्यापारी, जो कि कलकत्ते में बैठकर मौज करते हैं, चाहेंगे तो एक ही आदमी दे सकेगा। लेकिन देखा गया कि इस पर सौदा होने लगा। रुपये मिलेंगे यह बड़ी बात नहीं है लेकिन महताबजी की प्रतिश्रुति होनी चाहिये। यह एक विचित्र बात थी। काम के गुण दोष का ख्याल नहीं था बल्कि पैसे से पैसे का वजन कूता जाता था।

कामका श्रीगणेश

मैंने सर्वप्रथम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा के प्रधान मंत्री श्रीयुत मोहनलाल जी भट्ट से इसकी चर्चा की। आपने बड़े आनन्द के साथ अपनी सम्मति दी। कहा—५ हजार मैं वर्धा समिति से और ५ हजार सम्मेलन से दिलाऊँगा। सर्वप्रथम ५ हजार रुपयेकी वर्धावाली सहायता श्रीगणेश करने में बड़ी मूल्यवान साबित हुई। इसके पहले जब गान्धी राष्ट्रभाषा भवन बनने का सवाल सामने आया तो आपने समिति से १५ हजार रुपये दिलवाये। और भवन का काम आरम्भ हो गया। जो आज समाप्ति पर है। जयन्ती के लिये भी ५ हजार की सहायता बड़ी मूल्यवान् साबित हुई।

इस काम को करनेमें श्री शिवराम उपाध्याय, एम०ए० और श्रीमती मालती उपाध्याय, एम० ए० ने जो श्रम किया है, प्रशंसनीय है साथ ही श्री हरिमोहन श्रीवास्तवने भी। ग्रंथ के लिये टाइपिस्ट और विषय पाठन के लिये तिवारीजी को वाराणसी से बुलाया था। फलस्वरूप इस प्रकार राष्ट्रभाषा रजत-जयन्ती ग्रंथ की तैयारी का काम प्रारम्भ हुआ। ग्रन्थ की तैयारी में, ग्रंथ में उल्लिखित जिन नामों की चर्चा की गई है, सभी प्रकार के सहयोगी धन्यवाद के पात्र हैं।

ग्रंथ कहाँ छपाया जाय यह चिन्ता थी। डा० महताबजी का कथन था इस रजत जयन्ती ग्रंथ को कहीं बाहर छापा जाय

और अच्छे प्रेस में।

मैं प्रयाग गया और श्री वाचस्पति जी पाठक से मिला। पाठकजी ने कहा—हिन्दी संसार में सम्मेलन मुद्रणालय एकमात्र प्रेस है जो कि उत्तम छपाई करता है। अन्य प्रेस उसके मुकाबिले में कम पैसे लेंगे लेकिन सम्मेलन के मुकाबिले में वे छापने में नहीं उतरते। आपने फोन किया। सम्मेलन प्रेस के मैनेजर श्री सीतारामजी गुंठेने कहा—ठीक है हम छाप देंगे। मैं उनसे मिला। और यह तय हो गया कि रजत-जयन्ती ग्रंथ की छपाई सम्मेलन मुद्रणालय में होगी। गुंठे जी ने कहा—आप देखिये हम इसको सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ के रूप में छापेंगे।

मैं कटक चला आया और तैयार रजत-जयन्ती की पाण्डु-लिपियाँ सम्मेलन प्रेस को भेज दिया। प्रूफ देखने तथा लेखों को पढ़ने का काम पाठक जी ने पं० लली प्रसाद पाण्डेय को सौंपा। पाठक जी ने भी जो श्रम इस ओर किया है वह प्रसंशनीय है। उनके श्रम और चिन्ता का फल है रजत-जयन्ती का यह उत्तम आकर्षणीय कलेवर ग्रंथ छपने लगा। रुपये भी दे दिये कागज खरीदने के लिये। अब सामने दो चिन्ता थी। एक उत्सव के लिये योग्य व्यक्ति को लाने की और अर्थ संग्रह। डा० महताब जी का कथन था कि राष्ट्रभाषा के उत्सव के लिये राष्ट्रपतिजी को लाया जायगा। यह किसी के लिये आपत्ति की बात नहीं थी। सौभाग्य से उसी समय राष्ट्रपतिजी राउरकेला कारखाने को देखने के लिये उत्कल आये हुए थे। डा० महताब जी ने उनसे पूछा और उन्होंने अपनी कटक आने

की सहर्ष सम्मत्ति भी दे दी। लौटने पर मुझसे कहा---राष्ट्रपति जी ने स्वीकार कर लिया है। अब तुम तैयारी में लग जाओ।

वास्तव में यह उत्साह वर्द्धक सम्बाद था। कागज पत्र तथा निमन्त्रण पत्र छापे गये। मैं फिर चला दिल्ली। कारण, वहाँ सबसे मिलकर के आने का निमन्त्रण पत्र दिया जा सकता है। और केंद्र से इस काम के लिये कुछ आर्थिक सहायता पाने की प्रार्थना की जा सकती है। श्रीयुत मोहनलाल जी भट्ट ने तार किया---मैं दिल्ली जाता हूँ, आकर मिलो। और मैं समय पर जा उपस्थित हुआ। श्री भट्ट जी के साथ मैंने दिनकर जी, मैथिलीशरण जी गुप्त, बनारसी दास जी चतुर्वेदी से मिला।

फिर दिल्ली से सीधे प्रयाग आया।

प्रयाग में श्री वाचस्पति पाठक जी को साथ ले करके पं० सुमित्रानन्दन पंत से मिला तथा श्री बाबूराम सक्सेना और श्रीयुक्त धीरेंद्र वर्मा से मिला। उत्सव में सभी व्यक्तियों ने आने का वचन दिया। इन सबमें मुझे सुमित्रानन्दनजी से मिलकर तथा उनके कमनीय वचन सुनकर काव्यमय वायुमण्डल लगा। आपने कहा---मैं कलकत्ते से डरता हूँ। लेकिन कोणार्क देखने की प्रबल इच्छा है। अगर दिखलाओगे तो जरूर आऊँगा। मैंने कहा---वह तो आप लोगों को अवश्य दिखलाया जायगा। उत्कल में जाकर उस मन्दिर को न देखना और फिर आप जैसे कवि के लिये बड़े ही अभाव का विषय होगा।

प्रयाग से कटक आया। पत्र देखा राष्ट्रपतिजी नहीं आ रहे हैं। मन में रंज आया डा० महाप्तब जी से मिला।

उनके मन में अभिमान जागा—नहीं आते, न आयें। उनके प्रति उत्कल जन समुदाय का मन साफ नहीं है। फलस्वरूप लाभ की अपेक्षा हानि की संभावना अधिक है।

डा० महताब जी ने कहा—कोई चिन्ता नहीं है। मैंने पण्डित गोविंदवल्लभ पन्तजी से बातें कर ली हैं। वे आते हैं। जो आँचलिक बैठक भुवनेश्वर में है वे आयेंगे ही और उत्सव की मीटिंग में भी जायेंगे। तुम तैयारी करो।

मैं तैयारी में लग गया। इधर निमन्त्रण पत्र छापना है। इसलिये लिखित मत पाने की इन्तजारी में रहा। राष्ट्रपति के आने के सम्वाद में मैंने निमन्त्रण पत्र छाप लिया था लेकिन अब बिना पत्र पाये निमन्त्रण पत्र छापने का साहस मुझे नहीं होता था। इसलिये मैंने दिल्ली जाने का निश्चय किया। पं० पन्त जी से मिलकर बातें करने तथा निश्चित तिथियाँ बतलाने की कामना मेरे सामने थी।

वे आने के लिये तैयार थे। कोणार्क मन्दिर दर्शन की उनकी आन्तरिक अभिलाषा थी। मैं राजी था। उनको कोणार्क दर्शन कराने का भार मैंने लिया।

राष्ट्रभाषा रजत-जयन्ती उत्सव का आयोजन

कलकत्ते से ठाकुर अयोध्या सिंह जी ने लिखा—यदि आप ७ दिन कलकत्ते रहें तो राष्ट्रभाषा रजत-जयन्ती के लिये कुछ पैसे उठ सकते हैं।

यह एक मधुर आशा थी। निराशा की कोई बात नहीं थी। कारण, कलकत्ता भारत के सभी सार्वजनिक कामों में सहायक होता आ रहा है। मैंने भी सोचा—अगर रुपये मिल जाते हैं, तो रजत-जयन्ती का काम जरा और आसान हो जायगा।

१८ मार्च को मैं कलकत्ते के लिये चला। कितनी आशा और प्रसन्नता खेलती थी मन में? प्रथम दर्जे के डब्बे के नीची वाली खटोली पर बिस्तर बिछा दिया। बिटिया इन्दु स्टेशन तक साथ थी—उसकी माँ भी थी, पर मोटर में। मैंने काँच वाली खिड़की ऊपर उठाई। ऊपर उठी और चट से वह नीचे बायें हाथ की कनिष्ठा अंगुली को जा दबोचा। बिटिया घबड़ाई, मैं पायखाने वाले पानी के कल को खोला। अंगुली को तर किया अब मेरी सारी आगे-पीछे की चिन्ता अंगुली पर केंद्रीभूत थी; मानो मेधा जम गया हो, मुख से अपने आप राम-राम निकल रहा था। आँसू बार-बार बाहर आते लेकिन पी जाता। चोट लगी सुन विनीता भी मोटर से आ गई। उसे देख मेरी छाती भर आई। मन का दम्भ दिखलाया—धैर्य का प्रदर्शन

किया, मानो मैं वड़ी चोट का मुकाबिला करने के लिये सदैव प्रस्तुत होऊँ।

अंगुली का दर्द बढ़ रहा था; सिर चकरा रहा था। बुद्धि ने कहा—मारो गोली जयन्ती-चन्दे को, चल वापस।

ईश्वरलाल भाई जो भद्रक स्टेशन पर आकर इन्तजार करेंगे, खोजेंगे रात को वे व्यर्थ में हैरान होंगे तो ?

प्रोफेसर श्री शिवरामजी उपाध्याय आये। उन्होंने देखा। आदमी को होमियोपैथिक दवाखाने भेजा। दवा की भी आवश्यकता है, मुझे ख्याल नहीं था। केवल रूमाल को पानी में डुबोकर बाँध रखा था।

बिटिया और विनीता को वापस किया। गाड़ी चली। मैं लेट गया, आँसू लुढ़क आये परन्तु तुरन्त ही उस अंधेरे में विलीन भी हो गये।

रात को नींद के आने की बात ही नहीं थी। वह तो देखते ही भाग खड़ी हुई थी। मानो यह तमाशा देखना उसे पसन्द ही न हो।

भद्रक स्टेशन पर व्यास जी मिले। वे भी कलकत्ते जाते थे।

कलकत्ता पहुँचा। विश्रामगृह में स्नान किया और सामान वहीं छोड़, चले कलकत्ते चन्दे की आशा से।

आशा दिलाने में श्री भालचन्द्र शर्मा आगे थे। देखते ही दो चार स्थानों पर ले गये, परिचय कराया। जैसा उनका ढंग है और बल है वैसा उन्होंने किया। परन्तु, मुझे सुनने को

मिलेगा—भाई पैसे तो डा० महताब जी को ही मिलगे। यह कथन मैं प्रथम समझ नहीं सका। लेकिन बाद में पता लगा कि यह भी एक सौदा है। तुलसीदास जी की यह चौपाई याद आई, —बिन भय होय न प्रीति—

अंगुली का दर्द बढ़ रहा था। मित्र की राय से आपरेशन कराया। यह नई मुसीवत सामने आई। जीवन में यह प्रथम अवसर था जब कि मैंने नश्तर लगवाया था।

शाम को रिटायरिङ्ग रूम की तलाशमें आये, परन्तु स्थान नहीं मिला। सामान ले वाटर-लू स्ट्रीट गये। कारण, कपूर साहब वहाँ आ जाने के लिये निमन्त्रण दे चुके थे। लेकिन हम जब गये तो कार्यालय बन्द हो चुका था। फिर वापस स्टेशन की ओर चले। पथ में एक होटल को भी देखा, नाम था, "लक्ष्मी"। लेकिन जब जाकर देखा तो लक्ष्मी का तो नाम नहीं था, सफाई भी नहीं थी। स्टेशन आये। फल आदि मँगा कर खाये। फिर रिटायरिङ्ग रूम की खोजमें गये। उस समय नौ बज गये थे। उत्तर मिला—हमने कहा न कि जगह नहीं है ?

मैंने कहा—हाँ, लेकिन यह भी हो सकता है कि अधिकारी सज्जन न आयें। मेरा नाम लिख लीजिये, अगर वे न आयें तो मुझे दे दीजियेगा।

बात काम कर गई। नाम लिख लिया गया और आधे घंटे के बाद कमरा मिल गया।

मैं जब जब कलकत्ता गया, उसके जन-समूहके कोलाहल में अनूठे सौंदर्य के दर्शन मुझे होते। लेकिन इस बार देख नहीं

सका। बालक और बालिकाएं देखी, युवक और युवतियों को देखा, वृद्ध और वृद्धाओं को देखा, नर-नारियों सभी को देखा लेकिन इनके सौन्दर्य के दर्शन मुझे नहीं मिले।

कलकत्ता में ५–६ दिन रहा। परन्तु सुन्दर आशा के सिवा कुछ नजर नहीं आया। मैं अपने को वैसा ही पाया जैसे स्वप्न में किसी परी को पकड़ने के लिये आगे बढ़ना कि वह सामने खड़ी है दर्शन देती है। लेकिन उसे पकड़ कर आलिंगन करने की लालसा से जब आगे बढ़ जाते हैं तो वह सुन्दरी और आगे बढ़ जाती है। हम खाली हाथ ही रह जाते।

मैं वापस आया। एक भी पैसा नहीं मिला। जो पैसा पास था, वह भी खर्च करके चले आये।

रजत-जयन्ती की आगामी कल्पना कर सकते हैं, परन्तु मैं लौट करके उस निराशा का परिचय नहीं दिया। जिज्ञासुओं को बतलाया। फिर जाना होगा। महताब बाबू का पत्र चाहिये और रुपये तो लोग उन्हीं को देंगे ही, आदि आदि—

+ + +

कटक वापस आया तो पता चला कि पंडित पन्तजी के निजी सचिव ने लिखा है कि पन्तजी रजत-जयन्ती समारोह का सभापतित्व करने नहीं जा सकेंगे।

डा० हरेकृष्ण जी महताब से मिला उन्होंने कहा कि पन्तजी से और मेरी बातें हुई हैं, वे जरूर आयेंगे। यह ऊहापोह का विषय बन गया। उत्सव को सम्पन्न करना था। समय बीतते जान मैं दिल्ली चला। पंडित पन्तजी से मिलने

की तारीखें ठीक हुईं। लगभग ४ बजे हमने उनके सेक्रेटरी को फोन किया—७ बजे शाम को मिलने के लिये पन्तजी ने समय दिया है। उत्तर मिला—वे अस्पताल गये हैं। डाक्टरों ने उनको किसी से भी मिलने देने के लिये मना किया है। चार मास तक कहीं जा नहीं सकेंगे।

मुझे बहुत दुख लगा। आज सबेरे पैर फिसल गया था। सीढ़ी से गिरा, दाहिने हाथ की उसी अंगुली के चोट लगी जिसमें कि पहले बाएं हाथ में लगी थी। मन में बड़ी ग्लानि हुई, अपने पर क्रोध आया, स्नानागार में गया, अंगुलीको पानी से तर किया। दिल पिघल गया। अकेला था, जी हल्का किया। बगल में चमड़े का बैग—दोनों हाथों की अंगुलियों में पट्टी बाँधे मैं चला जा रहा था।

दिल्ली की गरमी को क्या पूछना था। श्री भागीरथि महापात्र से मिला। वे तिनके का सहारा बने। यों तो गोविंद-चन्द्र जी मिश्र, जिनके पास मैं ठहरा था, काफी सहानुभूति दिखाते थे लेकिन वे बीमार थे। दमा का रोग उन पर सवारी कसे था। मैंने भागू बाबू से सारी बातें कीं। उन्होंने दो-चार नाम बतलाये—श्रीमालीजी, दात्तार जी, श्रीमती सुचेता कृपलानी, श्री नित्यानन्द कानूनगो।

मुझे किसी नाम से आपत्ति नहीं थी। आते ही मैंने डा० महताब जी से सारी बातें कहीं, वे भी राजी हो गये निमन्त्रण-पत्र छप गया।

मई ९–१० को राष्ट्रभाषा प्रचार सम्मेलन, दिल्ली में

हो रहा है। उसमें मुझे जाना है। जाते समय प्रयाग गया, रजत-जयन्ती ग्रंथ की छपाई सम्मेलन-मुद्रणालय में हो रही थी। उसके लिये कुछ लेख और चित्र तथा ब्लाक साथ में थे। गर्मी की बात क्या कहना, नाक में रूमाल दिये रिक्शे से चलता था। उस रिक्शेवाले के साहस और श्रम की बात निराली थी। मई मास की दोपहरी थी; सड़क की गरम हवा नाक-आँखों को झुलसाती रहती थी। परन्तु रजत-जयन्ती ग्रंथ की प्रगति, उसका रंग-रूप तथा गच्छित गुण की ओर देख कर मन प्रसन्न था। सारी तकलीफों को भूल-सा गया था। ४ बजे हावड़ा-दिल्ली एक्सप्रेस प्रयाग स्टेशन पर जा लगा। मुझे दिल्ली जाना है। सारा स्टेशन तवा-सा तपा था। विशेष बात यह थी कि जो छाया के लिये पेड़ लगे थे उन्हें भी तोड़ दिया गया था। सभी यात्री छाया की पनाह खोज रहे थे। सामान लेकर चलने वाला कुली तक गरमी से घबड़ा गया। गाड़ी में स्थान न था। मुश्किल से प्रथम दर्जे की ऊपर वाली सीट एक सज्जन ने दी। द्वार तो खोले ही नहीं जाते थे।

यहाँ एक नया अनुभव हुआ। बरफ वाला आया, पूछा बरफ की चक्की रख दें? यह दिल्ली तक नहीं गलेगी। डिब्बा भी ठण्ढा रहेगा। हम चार आदमियों ने मिल कर पाँच रुपये देकर के बरफ की चक्की वाला एक बक्स रखा लिया। भीतर से डिब्बा बन्द, पंखे खोले।

वास्तव में आध घंटे के बाद गरमी की ज्वाला शांत हुई। बरफ से भीगे रुमाल से मुख, आँख, नाक पोंछा; आनन

लाल था। मैंने अपनी पानी वाली सुराही को बरफ पर रख दिया। १५ मिनट में पानी ठण्ढा हुआ, जो दिल को तर करता रहा। ८ मई को सबेरे ७ बजे दिल्ली पहुँच गये।

दिल्ली का राष्ट्रभाषा प्रचार-सम्मेलन बहुत ही उत्तम रहा है। पं० जवाहरलाल जी नेहरू की उपस्थिति से तमाम पण्डाल में एक नया जोश आ गया था। उनका अभिभाषण भी आशातीत था। लोगों में चर्चा हुई ऐसा भाषण पंडितजी देंगे, हमें विश्वास कम था। आदि आदि

इतना होते हुए भी मैं अपनी चिन्ता में था। मैंने देखा—मंच पर श्रीमाली जी हैं। मैं बिना किसी से पूछे यों ही ठाठ से ऊपर चला गया, यों तो इस राष्ट्रभाषा के मंच के हम भी अधिकारी थे, किन्तु प्रथम नीचे रुक गये थे। लेकिन मौका पाकर श्रीमाली जी से बातें करनी है। २ जून को उनको कटक जाना जो है।

मैंने श्रीमालीजी से कहा—२ जून को रजत-जयन्ती उत्सव होगा, निमन्त्रण-पत्र चले गये हैं। आप ही से श्रीगणेश होगा। उत्तर में आपने कहा—हाँ ठीक है। मैंने तो अपनी स्वीकृति दे दी है। सेक्रेटरी ने तार दिया है, आपको क्या नहीं मिला है?

—मैं बाहर हूँ, कटक गया होगा।

मुझे हर्ष हुआ। सफलता की यह एक शुभ सूचना है।

अब चिन्ता जागी रुपयों की। मुझे एक मित्र ने कहा—अगर डा० महताब जी एक दो घंटे के लिये कलकत्ते आ जायें

तो जयन्ती के लिये चन्दा मिल सकता है— यह सम्वाद मेरे पास था। ६ मई से दिल्ली में अखिल भारतीय काँग्रेस की बैठक हो रही थी। उसमें भाग लेने के लिये डाक्टर साहब आये हुए थे। मैं टैक्सी कर के उनसे मिलने चाणक्यनगर चला। स्थान से अपरिचित था। खोजने में समय लगा। १२—१ का समय था व पथरीली भूमि थी। दीर्घ निश्वास आनन और कपोलों को झुलसाये दे रहे थे। खोजते खोजते ओड़िया-भवन मिला। टाइपिस्ट से पूछा——मुख्य मन्त्रीजी हैं ?

उत्तर मिला——हैं, लेकिन अभी-अभी भोजन करके ऊपर लेटे हैं और थोड़ी देर में वे मीटिंग में जायेंगे।

मैंने कहा——मैं आया हूँ, जरा खबर कर दीजिये। यह कह टैक्सी वाले के पास गया। उसने खूब हजामत की, १५ रुपये उठाये। मैंने उसे बिदा कर दिया।

डाक्टर साहब ऊपर से नीचे आ गये। मैंने कलकत्ते रुकने के लिये कहा, तो बोले——न, न यह कैसे होगा। भुवनेश्वर से हवाई जहाज आयेगा मुझे लेने। मैं तो दमदम से सीधे चला जाऊँगा। कलकत्ता जाना ही न होगा।

मैंने कहा——२ घंटे के लिये रुकिये तो वहाँ से कुछ चन्दा राष्ट्रभाषा रजत-जयन्ती के लिये उठाया जा सकेगा।

उन्होंने कहा——यह दो घंटे क्या कम हैं ? कितना काम मेरे सिर पर है। फिर कभी देखेंगे।

मैंने कहा——२ घंटे लगेंगे, वहाँ कुछ आदमियों को उत्कल भवन बुला लेंगे। आपकी उपस्थिति में काम होगा।

अच्छा, काम होता है, हो। रामचन्द्र ! (अपने स्टेनो को पुकारा) देखो, भुवनेश्वर फोन करो कि प्लेन न भेजें और कलकत्ते को फोन करो, १४ मई के दिन मेल का टिकट रिजर्व करा लें। पाठक जी का काम होता है २ घंटे में, इसलिये कलकत्ते रुक जायेंगे।

मैंने जरूरी तार कलकत्ते को दिया। जिसमें १३।।~ खर्च हुए।

राष्ट्रभाषा प्रचार सभा के प्रति डाक्टर महताब साहब की हमदर्दी बहुत पहले से है। अनेक काम उनके नाम से होते हैं। उनके नाम का उपयोग राष्ट्रभाषा प्रचार सभा ने अनेक बार किया है और इसीलिये यह बढ़ती पर है।

मैं उन्हीं के साथ फिर नार्थ एवन्यू चला आया। प्रयाग होते कलकत्ते जाने की तैयारी में लगा था।

रजत-जयन्ती ग्रंथ की छपाई सम्मेलन-मुद्रणालय, प्रयाग में हो रही है। उसके काम के लिये मुझे प्रयाग जाना है। वहाँ से फिर एक दिन के लिये कलकत्ता जाऊँगा और दूसरे दिन फिर प्रयाग लौट आऊँगा।

रजत-जयन्ती ग्रंथ का काम ही रजत-जयन्ती उत्सव में प्रधान है। इसलिये उस पर सारा श्रम और चिन्ता केन्द्रीभूत है।

मैं दिल्ली से प्रयाग चला। गरमी की क्या बात थी ! शाम का समय था, आसमान लाल था। सूखे मुख, लाल कपोल, मुरझाए नेत्रों से अनेक सुन्दरियाँ चल रही थीं। उनको

देखकर प्रसन्नता के मारे आँखें श्रद्धा के भाव आज नहीं बिखेरती थीं। मैंने मन से पूछा—इसका कारण? उत्तर मिला—यह तो तुम्हारे ही पास है! एक तो दोनों हाथों की अंगुलियों पर की चोट है, दूसरे है जयन्ती की निराशा मिश्रित चिन्ता!

मैं दिल्ली से अपर-इण्डिया के प्रथम श्रेणी के डिब्बे में बैठ गया। भाग्य से नीचे की सीट मिल गई थी। उसमें चार सीटें थीं, दो नीचे और दो ऊपर। नीचे वाली सीट पर दो आदमी थे। एक में मैं और दूसरे में एक साहब जो बनारस के सारनाथ स्थान को जाते थे। अंग्रेजी में उन्होंने पूछा—कहाँ जायेंगे? इसको समझने में देर न लगी। मैंने कहा—कलकत्ता! फिर बोला—मैं अंग्रेजी नहीं जानता। साहब ने कहा—मैं 'नमस्ते-जी' भर हिन्दी कहना जानता हूँ।

फिर इशारे से काम चला। भीतर से बन्द करके दोनों सो गये। दूसरे दिन ९ बजे प्रयाग उतरा। गरमी की व्यस्तता ने दिमाग को हिला दिया। उतरा तो पर गाड़ी में पानी की सुराही भूल गया। थोड़ी दूर गया था कि साहब ने पुकारा—पानी का पात्र। मैंने देखा, वे उतर कर लिये चले आ रहे हैं। मैंने धन्यवाद दिया। उनके सौजन्य की सराहना करते सम्मेलन गया। सामान तो स्टेशन के विश्रामालय में ही छोड़ दिया था।

गरमी की बात तो बार-बार क्या कहूँ। उससे बचने के लिये मैंने नाक और मुँह बाँधा, लेकिन आँखें झुलसी जा रही थीं। बाजार में चश्मा लिया। यह लपट से तो रक्षा कर सका। लेकिन नीचे से आती अलकतरा की गरमी निश्वास से पैर से सिर

तक गरम सुरसुरी दौड़ा देती थी।

सम्मेलन-मुद्रणालय गया। बन्द द्वार और उस पर खशखश की टट्टी गरमी को रोकने के लिये अथकश्रम कर रही थी। मैं उसी दिन शाम को कालका-मेल से कलकत्ता को चला। सौभाग्य से प्रथम श्रेणी की सीट मिली और अच्छी मिली। लेकिन गरमी क्या पीछा छोड़ती थी। वह बंगाल की सीमा तक साथ-साथ रही। अवश्य कलकत्ता गरम से बचा नहीं था। परन्तु तीर्थराज-प्रयाग का तेज और कपिल मुनि की गंगा सागर की उपत्यका जैसी कर्कश नहीं थी। परन्तु भीतर ही भीतर उसकी ऊमस प्राणघाती सी लगती थी।

मैं कलकत्ता आया। जिस काम के लिये मैंने तार में १३।।- खर्च किये थे, नहीं हुआ था। जिन सज्जन के कथन पर मैंने प्रधान मन्त्रीजी का कार्यक्रम बदलाया था, उन्हीं के काम में कुछ ढिलाई और गपोड़पन मालूम दिया। फिर भी मिला। जिन-जिन को पत्र देना था, दिया।

कलकत्ता पैसे की खान बना है। बे-शुमार पैसे हैं लेकिन कुछ ही लोगों के पास। यहाँ मालूम दिया कि बिहारीजी ने यह दोहा ठीक ही लिखा है—

कनक कनकते सौगुनी मादकता अधिकाय।
यहि खाय बौरात नर, वहि पाये बौराय।।

फिर प्रयाग आया। रजत-जयन्ती ग्रंथ का कवर बन गया था। देखा, सुन्दर है। एक कलाप्रेमी प्रोफेसर ने इसको बनाया है। ग्रंथ छप गया है। सारे फर्मों की बंधाई मैंने देखी।

गरमी का उत्ताप शीतल लगा। श्री वाचस्पति पाठकजी को साथ लेकर मैं सम्मेलन के आदाता (रिसीवर) से मिला। उनको रजत-जयन्ती उत्सव में आने के लिये निमन्त्रण दिया। उन्होंने आधी स्वीकृति प्रदान भी की। सम्मेलन के सत्यनारायण कुटीर में जब मैं लौटा तो रात के ६ बज चुके थे। द्वार खोला, जूता उतार फर्श पर पैर रखा तो जलने लगे। कमरा एकदम तवा बना था। पंखा खोला तो लू जैसी वायु आने लगी। पानी के कल के पास गया तो वह अदहन बना था। फिर भी बाल्टी से पानी ला, कमरे में गेरा। एक दम भर दिया। पंखा को खोला और जितनी भी ताकत थी, चलाने के लिये हैण्डल घुमाया। लगभग दो घंटे के बाद कमरा ठंढा पड़ा और मैं खाट पर बैठा। खाट भी जलती थी। उस रात तीन बजे तक मैं सो नहीं सका। नाना प्रकार के उधेड़बुन में मैं लगा रहा। ग्रंथ को देख मैं खुश होता। लोगों को देख क्रोध आता। खास दिल्ली से तो मुझे घृणा हो गई थी। अगर वहाँ बम्बार्ड हो जाय तो मैं बेहद खुश होऊँ। मुझे वहाँ आन्तरिकता नजर नहीं आई।

प्रयाग से अपने कार्य की सफलता और कलकत्ता से अर्थ का नैराश्य भाव लेकर मैं प्रथम श्रेणी के डिब्बे में बैठ सीधे कटक आया। यह मुझे बहुत पसन्द था और मेरी कार्य-सफलता का यह एकमात्र केंद्र जो ठहरा।

कटक आकर मुझे मालूम हुआ कि श्रीमालीजी नहीं आ रहे हैं। बनमाली बाबू और गोपीनाथ जी को निराशा का अंधकार ने घेरा है। मैंने कहा—आप लोग कौन आता है,

कौन नहीं आता है, इसकी चिन्ता छोड़ कर तैयारी कीजिये। समझ लीजिये कि इस उत्सव को सम्पन्न करने के लिये ब्रह्मा-विष्णु-महेश आ रहे हैं। जो सत्यं, शिवं और मंगलम् का द्योतक है। आदमी के श्रम से सफलता आती है, व्यक्ति पूजा से नहीं।

तैयारी शुरू हो गई। सभा भवन पर शामियाना टाँगा जाने लगा। एक सज्जन ने कहा—इसकी छत तैयार करके भवन का उद्घाटन राष्ट्रपतिजी या प्रधानमन्त्रीजी से करवाइये। मैंने कहा—उद्घाटनकर्त्ता का नाम मैंने ठीक करलिया है। इस कार्य के लिये पं० अनसूया प्रसाद पाठक का नाम मैंने रखा है। वे हँसे; मेरी आन्तरिक वेदना को समझने की शक्ति उनमें नहीं थी। कारण, वे हमारे कार्य, श्रम और उद्यम से बहुत दूर हैं।

नाना प्रकार के ऊहापोहमय विचार तरंगों के बीच सरकती समय सारणी के अन्दर जून—५, ६, ७, ८ – १६५६ सन् आया ही। जिन जिन के नाम का निमन्त्रण-पत्र बाँटा गया था, नहीं आये। लेकिन प्रत्येक प्रांत के प्रांतीय भाषा साहित्य के विद्वान आये। अपना-अपना विद्वतापूर्ण भाषण दिया। बड़ा ही आनन्दमय और आशातीत उत्सव रहा। मेरी कल्पना थी कि ऐसा उत्सव पालित हो जैसा कि आज तक कहीं नहीं हुआ हो।

प्रयाग से राष्ट्रभाषा रजत-जयन्ती ग्रंथ छपवाकर श्रीयुत् सीतारामजी गुंठे लाये। जिन लोगों ने ग्रंथ को देखा मुग्ध हो गये। डाक्टर महताबजी ने खुश होकर अपने श्रम की

सराहना की। माना और गर्व के साथ कहा—मैंने इस ग्रंथ की तैयारी में ४–४, ५–५ घंटे व्यय किये हैं। यह ग्रंथ आज उत्सव के प्रथम दिन आत्म प्रकाश पा रहा है।

+ + +

मैंने बहुत पहले कहा है और आज भी कहता हूँ कि आज तक किसी भाषा में, किसी विद्वान ने, किसी नेता ने और किसी व्यक्ति ने ऐसा ग्रंथ नहीं प्रकाशित किया है। भले ही उनके पास ज्ञान हो, धन हो और नाम हो। लेकिन नहीं ही किया है और मुझे आनन्द है कि कम से कम पाप से कमाया धन तो इसमें नहीं लगा है और किसी के पास मुख देखी झूठी प्रशंसा ही नहीं मिली है। बल्कि कलकत्ता, बम्बई, अहमदाबाद, दिल्ली से चूँ-चूँ की आवाज सी पाकर दौड़ने वाले व्यक्ति नहीं आ पाये। हालाँकि मैंने बड़ी कोशिश की, बड़ी दौड़ धूप की। बड़ी इन्तजारी की, लेकिन नहीं आये।

मैं अब सोचता हूँ कि यह पावन अनुष्ठान उनकी छाया से शायद मुक्त रहना चाहता हो।

चार दिन तक उत्सव होता रहा। इन चार दिनों के उत्सव के मुखियों के रूपमें मौजूद रहे श्रीयुक्त मोहनलाल जी भट्ट तथा हमारे प्रांतीय संचालकों में श्रीयुक्त जेठालाल जी जोशी, गुजरात; श्री मो०के० डोंगरे, महाराष्ट्र; श्री कान्तिलाल जी, बम्बई; श्री रेवतीरंजन सिन्हा, बंगाल; श्री जितेंद्र चन्द्र चौधरी, आसाम; श्री चक्रध्वज शर्मा, मणिपुर। वास्तव में इनको पाकर मैं सारी तकलीफें भूल गया।

दिन भर कसा कसाया कार्यक्रम रहता। विद्वानों का मेला रहता, शाम को ८ बजे से मनोरंजन कार्यक्रम होता। जिसमें ओड़िशा की आनन्दवर्द्धक आन्तरिक कला का प्रदर्शन होता। सारा वातावरण आनन्दमय था। मुझे पता न लगा कि कहाँ से रुपया आता और खर्च होता है । लेकिन कभी कमी का अनुभव मुझे नहीं हुआ। मैं इसमें लीन था।

आखिरी दिन मैं धन्यवाद देनेके लिये खड़ा हुआ। मुझे याद आया कि मैंने भदन्त आनन्द कौसल्यायन जी से पूछा—हमारा निमन्त्रण पत्र आपको कहाँ मिला। आपने कहा—निमन्त्रण पत्र तो मुझे मिला ही नहीं है। लेकिन, हाँ वर्धा में बँट रहा था, सो मैंने भी लिया और चला आया। कहाँ तो राष्ट्रभाषा के उत्सव के लिये यह अनुराग और कहाँ हमारे सत्ता अधिकारियों नेताओं का ख्याल जिनके द्वार मैंने विनय से खटखटाया, आने की प्रार्थना की। जिनमें जनता के प्रिय थे, राजेंद्र बाबू भी 'हाँ' कर के नकार गये।

मैंने याद करके भूल की। जो धन्यवाद के दो शब्द कहने वाला था इस विषाद में बोल न सका। मुझे उस समय रोष था, क्रोध था और कारुणिक विचार धारा उमड़ रही थी। फलस्वरूप मैं जिन शब्दों में आगत विद्वानों को श्रद्धांजलि देना चाहता था, नहीं दे पाया; मैं जिन शब्दों में श्रद्धेय मोहनलाल जी भट्ट तथा अपने प्रादेशिक संचालकों को अपना भ्रातृ-प्रेम भेंट करना चाहता था, नहीं दे पाया; मैं जिन शब्दों में उत्कल के विद्वानों को अपनी श्रद्धा-भक्ति भेंट करना

चाहता था, नहीं कर पाया; मैं जिन शब्दों में अनुवादक बन्धुओं के साथ प्रेम-सम्भाषण करना चाहा था, नहीं हो पाया; मैं जिन शब्दों में मनोरंजन कार्य में अपने को युक्त करके इस उत्सव को सुफल-सफल सम्पन्न किया, उनको दो शब्द प्रेम से नहीं दे पाया; मैं 'बाबूमियाँ' के अभिनय करनेवाले कलाकार, खासकर श्री कालीचरण पट्टनायक को धन्यवाद तक नहीं दे पाया; 'अखिल-भारत-रेडिओ' तथा उत्कल सरकार के 'लोक-संपर्क विभाग को भी धन्यवाद नहीं दे पाया। प्रेसवाले भाइयों के साथ एक शब्द भी नहीं बोल पाया। मैं अवश्य उन सब के सहयोग का ऋणी हूँ तथा उन सबों को अपना यथोचित प्रेम-सम्भाषण दान करता हूँ, साथ ही साथ हमेशा के लिये इसी प्रकार सहयोग की झोली बिछाये देता हूँ।

जिन जिन लोगों ने मेरे इस प्रेममय पुनीत काम को सहायता की मैं उनको कभी भी नहीं भूल सकता और उनको भी कभी नहीं भूल सकता जिन लोगों ने मेरे साथ मेरे गरीब दिल के साथ, गरीब श्रम के साथ, मेरी एकनिष्ठ लगन के साथ विश्वासघात किया है।

मुझे लगने लगा है, मुझमें अभिमान जागा है कि मैंने जो किया है और कर रहा हूँ, वैसा किसी की भी हिम्मत नहीं, साहस नहीं, लगन भी काम करने की नहीं है।

मैं दिन रात एक ही चिन्ता करता हूँ वह है राष्ट्रभाषा की उन्नति की। उसकी सेवा श्रम से जो मिलता है उसी में मैं गुजारा करता हूँ, जमा करने की चिन्ता मैंने नहीं की है और न पत्नी

विनीता ने ही कभी कहा है। बिटिया इन्दूमती तो अभी अबोध बच्ची है। जिसकी भावी चिन्ता के लिये मुझे बार बार जगाया करते हैं श्रीयुक्त विश्वनाथ जी दास और पं० रामेश्वर दयालजी दुबे।

उत्सव सम्पन्न हो गया था, सभी ने अपनी अपनी आंतरिक वाहवाही जाहिर की। मैंने भी उनको उत्साह के लिये धन्यवाद दिया। खासकर इस श्रम में पूर्ण प्राण से मैंने भागीदार पाया है श्री गोपीनाथ जी साहु को उनका श्रम और चिन्ता का दान रजत जयन्ती समिति कभी भुला नहीं सकती है।

इसके बाद मैं उन सभी लेखकों को नहीं भुला सकता जिन लोगों ने कि अपना सारा श्रम केंद्रीभूत करके रजत जयन्ती ग्रंथ को इस रूप में तैयार करने की तकलीफ की है और बिना किसी प्रकार के प्रलोभन के जिसके वे अधिकारी हैं।

अनुवादकों में प्रधान प्रचारक पं० बनमाली मिश्र और श्री रामसुखजी भारतीय का श्रम उल्लेखनीय है। आपलोग अनुवाद करने तथा अन्य योजना में युक्त रहे हैं। साथ ही साथ अन्य अनुवादक बन्धुओं का भी कृतज्ञ हूँ।

कला विकास केंद्र के बाबूलाल दोशी का राष्ट्रभाषा प्रेम भी उल्लेखनीय है।

हिन्दी में एक कहावत है मारे सिपाही और नाम सरदार का। यह कहावत ठीक है। राष्ट्रभाषा के प्रचार में आज १०० से ऊपर प्रचारक काम करते हैं जिनके श्रम से २ सत्र में, वर्ष में १५ हजार आदमी परीक्षा में बैठते हैं। और अभी तक ९४

हजार आदमियों ने हिन्दी सीखी है। इन्हीं लोगों का श्रम है जो कटक में मूर्तिमन्त है।

उत्सव खतम हो गया। मेरे सिर पर श्रम का भूत सवार हो गया। मैं थकान का अनुभव करने लगा। मैं संसार में हूँ मुझे ख्याल भी न था। शाम और सबेरे विनीता घण्टों शिर पर तेल मालिश करती। मैं शून्य था। कभी कभी अपने पुराने श्रम की असफलता पर, जिसका, अर्थ एकमात्र कारण था, रंज होता। मुझे लगता है कि अगर राष्ट्रभाषा समवाय प्रेस मेरे हाथ न होता तो यह उद्यम सफल नहीं होता। कहाँ से लाता भला छपाई के रुपये। जिसका बिल हजारों की संख्या में बाकी है। परन्तु चूँकि वह भी एक सभा की वस्तु है, वह खामोश, श्रम करता जा रहा है। मानो केवल श्रम करना ही उसका एकमात्र काम हो। साथ ही सारे कर्मचारी भी तो धन्यवाद पाने के अधिकारी हैं, जो लगातार दिन, रात इस सभा की रजत जयन्ती को सफल करने में तन, मन से लगे थे।

इस श्रमसे अब यह विश्वास हो गया है कि अगर आदमी लगन से लगे तो किसी काम में असफलता नहीं मिल सकती है। मुझे लगता है कि इस पावन संस्था पर भगवान का आशीर्वाद है। जो कि बिना किसी प्रलोभन के चल रही है। इसमें शक नहीं कि हम सब कर्मी डा० हरेकृष्ण महताब के श्रम और लगन को भुला नहीं सकते। आरम्भ से लेकर आज तक उनका सभा के प्रति अनराग है और जब जब सभा के काम के लिये

मैंने कोई सुझाव दिया है तो आपने उसको आनन्दके साथ माना है और अपना श्रमदान दिया है।

सभा का इस रूप में खड़ा होना इसका बहुत-सा श्रेय डा० हरेकृष्ण महताब साहब को भी है। जो भी योजना उनके सामने से आई है यह कभी नहीं कहा कि यह कैसे होगा। साधारण कामों में उनकी हामी बड़े काम की लगी है और रजत जयन्ती ग्रंथ तो उनके श्रम का भी प्रतीक है।

२५ साल की चिन्ता का यह प्रथम अध्याय समाप्त होता है। इसलिये सभी सहयोगियों से सहयोग की भीख माँगता हूँ कि वे आगे भी ऐसा ही संबंध बनाये रखें।

इसका यह परिणाम होगा कि जो राष्ट्रसेवा और एकता का प्रतीक राष्ट्रभाषा के प्रचार का काम हमने अपने हाथ में लिया है उसको जरूर पूरा करेंगे। इसके खिलाफ फिर चाहे राजाजी जैसे लाखों क्या करोड़ों अपना काम करते जायेंगे। और हम लोग गाते जायेंगे कि भारत जननी तेरी जय हो विजय हो, तू शुद्ध तू प्रेम आगार, तेरी विजय सूर्य माता उदय हो।

● ● ●